

परं जिनागमस्येदं रहस्यमधार्यताम् ।

हिंसा रागाद्युदुदभूतिरहिंसा तदनुभ्रवः ॥ २६ ॥

अवधार्यतां --- निश्चलचेतासि निवेश्यताम् । उदुदभूतिः--- घ्नोपात्समां पादपूराणेइत्युदो द्वित्वम्

॥ २६ ॥

अथ अष्टोत्तरशतप्रकारहिंसाकारणनिरासादहिंसकः स्यादित्यनुशास्ति कषायेत्यादि---

कषायोद्रेकतो योगैः क.तकारितम्मतामन् ।

स्यात् संरम्भ--समारम्भारम्भानुज्झन्नहिंसकः ॥२७॥

संरम्भः--- प्राणव्यपरोपणादिषु प्रभादवतः प्रयत्नावेशः । समारम्भः :--- साध्याया हिंसादिक्रियायाः

साधनानां समाहारः । आरम्भः :-- संचिताहिंसाद्युपकरणस्याद्यः प्रक्रमः । तथा चोक्तम् ---

घसंरभोऽकधिसंकल्पः समारम्भोऽधितापकः ।

शुध्दबुध्दिभिरारम्भः प्राणानां व्यपरोपकः^९ []

१२ तत्र क्रोधोदयात् कायेन कृतः कारितोऽनुमश्चेति त्रयः संरम्भाः । एवं त्रयो मानावेशात्, त्रयो मायोद्रेकात् त्रयश्च लोभोभ्रवादिति द्वादश संरम्भाः । तद्वत्समारम्भा आरम्भाश्च द्वादशेति सर्वे मिलिताः षट्

जिनागमका यह उत्कृष्ट सार अपने चित्तमें निश्चित रूपसे अंकित करें कि राग-द्वेष आदिकी उत्पत्ति हिंसा है और उसकी अनुत्पत्ति अहिंसा है ॥ २६ ॥

आगे कहते हैं कि हिंसाके एक सौ आठ प्रकारके कारणोंको दूर करनेपर ही अहिंसक होता है ----

क्रोध आदि कषायोंके उदयसे मन--वचन---कायसे कृत कारित अनुमोदनसे युक्त संरम्भ, सामारम्भ और आरम्भको छोडनेवाला अहिंसक होता है ॥ २७ ॥

विशेषार्थ --- प्राणोंके घात आदिमें प्रमादयुक्त होकर जो प्रयत्न किया जाता है उसे संरम्भ कहते हैं। साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोंका अभ्यास करना समारम्भ है । एकत्र किये गये हिंसा आदिके साधनोंका प्रथम प्रयोग अरम्भ हैं । क्रोधके आवेशसे काये करना, कराना और अनुमोदन करना इस तरह संरम्भके तीन भेद हो । इसी तरह मानके आवेशसे तीन भेद होते हैं, मायाके आवेशसे तीन भेद होते हैं और लोभके आवेशके तीन भेद होते हो । इस तरह संरम्भके बारह भेद हैं । इसी तरह बारह भेद समारम्भके और बारह भेद आरम्भके होनेसे सब मिलकर छत्तिस भेद होते हैं । छत्तिस ही भेद वचन सम्बन्धी होते हैं और छत्तिस ही भेद मन सम्बन्धी होते हैं । ये सब मिलकर जीवाधिकरणरूप आस्त्रवके १०८ भेद होते हैं । से बा हिंसाके कारण हैं । आशय यह है कि मूल वस्तु संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ है । ये तीन मनसे, वचनसे और कयसे होते हैं इसलिए प्रत्येकके तीन--तीन प्रकार हैं । इन तिन--तिन प्रकारोंमे से भी प्रत्येकके कृत, कारित, अनुमोदनकी अपेक्षासे तीन--तीन भेद होते हैं । स्वयं करना कृत है, दूसरेसे कराना कारित है ।

कोई करता हो तो उसकी सहायता करना अनुमोदन है । इस प्रकार संरम्भ, समारम्भ और आरम्भके नौ प्रकार होते हैं । इन नौ प्रकारोंमें ---- से भी चार क षायोंकी अपेक्षा प्रत्येकके चार---चार भेद हाते हैं ।

रत्तो वा दुड्डो वा मूढो वा जं पउंजए पओगं ।

हिंसा वि तत्थ जायादि तम्हा सो हिंसओ होइ ॥ [भ. आरा. ८०२] ॥ २७ ॥

अथ भावाहिंसानिमित्तभूतपरद्रव्यनिवृत्ति परिणामाविशुद्धयर्थमुपदेष्टुमाचष्टे ----

हिंसा यद्यपि पुंसः स्यान्न स्वल्पाऽप्यन्यवस्तुतः ।

तथापि हिंसायतनाद्विरमेंभ्रवशुद्धये ॥ २८ ॥

अन्यवस्तुतः --- परद्रव्यात् । हिंसायतनात् --- भावहिंसानिमित्तान्मित्रशत्रुप्रभृतेः । भावशुद्धये --- भावस्य आत्मपरिणामस्यात्मनो मनसो वा । शुद्धिः --- मोहोदयसंपाद्यमानरागद्वेषकालुष्योच्छेदस्तदर्थम् । उक्तं च ----

स्वल्पापि न खुल हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।

हिंसायतनिनिवृत्तिः परिणामाविशुद्धये तदपि कार्या ॥ [पुरुषार्थसि, ४९]

तथा यथा जीवनपरिणामो हिंसापरकणभूतो जीवाधिकरणास्त्रवभेदोऽष्टोत्तरशतसंख्यं तथाऽ जीवपर्यायोऽप्यजीवाधिकरणं तपुर्भेदं स्यात्तत्तद्वत्ततोऽपि भावशुद्धयर्थं निर्वर्तेत्यपि हिंसायतनाद्विरमेत इत्यनेनैव सूचितं नेतव्यम् । तद्यथा -- निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाद् द्विचतुर्द्विभेदाः क्रमादजीवाधिकरणमिष्यते । तत्र हिंसापेकरणतया निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना । दुःप्रयुक्तो देहः सच्छिद्राणि चोपकरणानीति द्विविधा । तथा सहासाऽ नामोगदुप्रमृष्टाप्रत्यवेक्षितभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः । तत्र पुस्तकाद्युपकरणशरीरतन्मलानि भयदिना शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि षट्जीवबाधाधिकरणत्वात्सहसानिक्षेपः । असत्यामपि त्वरायां जीवाः सन्तीति न सन्तीति वा निरुपणमन्तरेण निक्षिप्यमाणमुपकरणादिकमनाभोगनिक्षेपः । य (त) देव दुः प्रमृष्टं निक्षिप्यमाणं दुःप्रमृष्टो निक्षेपः ।

सब मिलकर १०८ भेद होते हैं । कोई भी हिंसा सम्बन्धी कार्य इन १०८ प्रकारके अन्तर्गत ही आता है । और जो अन प्रकारोंमें --- से किसी भी एक प्रकारसे सम्बद्ध होता है वह हिंसक होता है । क्योंकि वह अपने भावप्राणोका और दूसरेके द्रव्यप्राण और भावप्रणोंका घातक है । कहा भी है --- घ्रागी, द्वेषी और मोही व्यक्ति जो कुछ करता है उनमें हिंसा भी होती है और इसलिए वह हिंसक होता है ।

परद्रव्य भावाहिंसामें निमित्त होता है । इसलिए परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परद्रव्यके त्यागका उपदेश देते हैं ---

यद्यपि परवस्तुके सम्बन्धसे जीवको थोड़ी---सी भी हिंसाका दोष नहीं लगता । तथापि आत्माके परिणामोंकी विशुद्धिके लिए भावाहिंसाके निमित्त मित्र--शुत्र वगैरहसे दूर रहना चाहिए ॥ २८ ॥

विशेषार्थ --- हिंसाके दो साधन हैं ---- जीव और अजीव । अतः जैसे जीवके परिणाम, जिनकी संख्या १०८ है, हिंसाके प्रधान साधन है वैसे ही अजीवकी चार अवस्थाएँ भी हिंसाकी साधन हैं । अतः परिणामोंकी विशुद्धिके लिए उनका भी त्याग आवश्यक है । यह बात श्लोकके घहिसायतनाद्विरमेत्ड घहिसाके निमित्तोंसे दूर रहना चाहिए उ पदसे सूचित होती है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है --- अजीवाधिकरणके भेद हैं निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग । हिंसाके उपकरण रूपसे रचना करने अथवा बनानेको निर्वर्तना कहते हैं । प्रभार्जनोत्तरकालं जीवाः सन्त्यत्र न सन्तीति वाऽप्रत्यवेक्षितं निक्षिप्यमाणमप्रत्यवेक्षितनिक्षेः । तथा उपकरण भक्तपानसंयोजनभेदाद् द्विधा संयोगः । तत्र शीतस्य पुस्तकादेरातपातितप्तेन पिच्छादिना प्रभार्जनाप्रच्छादनादिकरण (मुपकरण) संयोजनम् । तथा सम्मूर्च्छनासंभवे पानं पानेन पानं भोजनेन भोजनं पानेनेत्यादि संयोजनं भक्तापानसंयोगः । तथा सम्मूर्च्छनासंभवे पानं पानेन पानं भोजनेन भोजनं पानेनेत्यादि संयोजनं भक्तपानसंयोगः । तथा दुष्ट मनोवाक्कायप्रवृत्तिभेदान्निसर्गस्त्रिधेति । तथा चोक्तम्----

घसहसानाभोगितदुःप्रमार्जिताप्रेक्षणानि निक्षेपे ।

देहश्च दुष्टयुक्तथोपकरणं च निर्वृत्तिः ॥

संयोजनमुपकरणे पानाशनयोस्तथैव संयोगः ।

वचनमनस्तनवस्ता दुष्टा भेदा निसर्गस्य" [] ॥२८॥

अथेदानीमात्मवत्परस्यापि प्राणव्यपरोपणमसह्य दुःखकारणमाकलयन् सर्वत्र समदर्शी सर्वथा तत्परिहरतीति स्थितार्थोपसंहारार्थमाह -----

उसके दो भेद हैं, भूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना । शरीर वगैरहमें इस प्रकार प्रयोग करना कि वह हिंसाका साधना बने मूलगुणनिर्वर्तना है । लडकी वगैरहमें चित्र आदि अंकित करना उत्तरगुणनिर्वर्तना है । निक्षेप नाम रखनेका है । उसके चार भेद हैं--सहसा निक्षेप, अनाभोगनिक्षेप, दुःप्रमृष्ट निक्षेप और अप्रत्यवेक्षित निक्षेप । भय आदिके वश पुस्तक आदि उपकरणोंको, शरीरको और मलमूत्र आदिको शीघ्र इस तरह निक्षेपण करना जिससे छह कायके जीवोंको बाधा पहुँचे, उसे सहसा निक्षेप कहते हैं । जल्दी नहीं होनेपर भी जीव हैं या नहीं यह देखे बिना उपकरण आदि रखना अनाभोग निक्षेप है । दुष्टतापूर्वक पृथ्वी आदिकी सफाई करके उपकरण आदिका निक्षेप करना दुःप्रमृष्टनिक्षेप है । पृथिवी आदिकी सफाईके बाद भी जीव हैं या नहीं यह देखे बिना उपकरण आदिका रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है । संयोगके दो भेद हैं--उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग । ठण्डे स्थानमें रखी हुई पुस्तक आदिका धूपसे गर्म हुई पीछी आदिसे प्रमार्जन करना या ढाँकना आदि उपकरण संयोग है । सम्मूर्च्छन जीवोंकी सम्भावना होनेपर पेयको पेयसे, पेयको भोजनसे, भोजनको भोजनसे, भोजनको पेयसे अर्थात् सचित्त-अचित्त भक्तपानको मिलाना भक्तपान संयोग है । निसर्गके भी तीन भेद हैं--दुष्ट मनकी प्रवृत्ति, दुष्ट वचनकी प्रवृत्ति और दुष्ट कायकी प्रवृत्ति । कहा भी है--

परवस्तुके निमित्तसे जीवको थोड़ी-सी भी हिंसा नहीं लगती फिर भी परिणामोंकी निर्मलताके लिए हिंसाके घर जो परिग्रह आदि हैं उनका त्याग करना उचित है। आशय यह है कि परिणामोंकी अशुद्धताके विना परवस्तुके निमित्त मात्रसे जीवको हिंसाका रंचमात्र भी दोष नहीं लगता। फिर भी परिणाम वस्तुका आलम्बन पाकर होते हैं। जैसे यदि बाह्य परिग्रह आदिका निमित्त होता है तो उसका आलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं। अतः परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परिग्रह आदिका त्याग करना चाहिए॥२८॥

उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपनी तरह दूसरेके प्राणोंका घात भी असह्य दुःखका कारण है। ऐसा निश्चय करके सर्वत्र समदर्शी मुमुक्षु सर्वथा हिंसाका त्याग करता है। उसीका उपसंहार आगेके पद्यमें करते हैं---

१. दुःप्रयुक्त----भ. कु.च.।

मोहादैक्यमस्यतः स्ववपुषा तन्नाशमप्यात्मनो,

नाशं संक्लिशितस्य दुःखमतुलं नित्यस्य यद्द्रव्यतः।

स्याद् भिन्नस्य ततो भवत्यसुभृतस्तधोरदुःखं स्वव-

ज्जानन् प्राणवधं परस्य समधीः कुर्यादकार्यं कथम् ॥२९॥

मोहत्--आत्मदेहान्ताज्ञानाभावात्। अवस्यतः--निश्चिन्वतः। स्ववपुषाऽस्वोपात्तशरीरण सह आत्मनो नाशमवस्यत इत्येव। संक्लिश्यत इत्येतः--देहद्वारप्रवृत्तव्याधिजरामरणादिभयादिना क्लुषितचित्तस्य। द्रव्यतः--अर्थात्पर्यायतश्चानित्यस्य। स्याद्भिन्नस्य ततः--कथंचिद् लक्षणभेदान्निजदेहात् पृथग्भूतस्याशक्यविवेचनत्वाच्चाभिन्नस्य। ये तु जीवदेहीवत्यन्तं (-भिन्नौ मन्य -)न्ते तेषां देहविनाशेऽपि जीवविनाशाभावाद्धिंसानुपपत्तेः कुतस्तन्निवृत्त्या प्राणिरक्षाप्रधानो धर्मः सिद्धयेत्। तदुक्तम्---

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः।

कायवधे हन्त कथं तेषां संजायते हिंसा ॥[]

ये च तयोरभेदैकान्तं मन्यन्ते तेषां कायविनाशे जीवस्यापि विनाशात् कथं परलोकार्थं धर्मानुष्ठानं शोभते।

तदम्युक्तम्---

जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रे।

कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं वार्यः ॥ ३[]

ततो देहाद्भिन्नाभिन्न एवाहिंसालक्षणपरमधर्मसिद्धयर्थिभिरात्माऽभ्युपगन्तव्यः। तथात्मनः सर्वथा नित्यस्येव क्षणिकस्यापि हिंसा दुरूपपादा इति नित्यानित्यात्मक एव जीवे हिंसासंभवात्तद्विरतिलक्षणणर्माचरणार्थिभिर्द्रव्यरूपतया नित्यः पर्यायरूपतया चानित्यः प्रमाणप्रसिद्धो जीवः प्रतिपत्तव्यः। तथा चोक्तम्----

जो प्राणि आत्मा और शरीरका भेदज्ञान न होनेसे अपने शरीरके साथ अभेद मानता है और शरीरके नाशके साथ द्रव्यरूपसे नित्य तथा शरीरसे कथंचित् भिन्न भी आत्माका नाश मानता है अतएव जिसका चित्त शरीरके द्वारा होनेवाले रोगादिके कारण क्लुषित रहता है उसे बहुत दुःख होता है । अपनी ही तरह दूसरोंके प्राणोंके घातको भी घोर दुःखका कारण जानकर समदर्शी मुमुक्षु कैसे हिंसारूप अकार्यको करेगा ? अर्थात् तहीं करेगा ॥२९॥

विशेषार्थ --शरीर और जीव ये दोनों दो भिन्न द्रव्य हैं । शरीर पौद्गलिक है और जीव चेतन द्रव्य है । किन्तु दोनों इस तरहसे मिल गये हैं कि उनका भेद करना शक्य नहीं है । इसीलिए जीवको शरीरसे सर्वथा भिन्न कहा है । जो जीव और शरीरको अत्यन्त भिन्न मानते हैं उनके मतमें देहका विनाश होनेपर भी जीवका विनाश न होनेसे हिंसा ही सम्भव नहीं है तब हिंसाके त्याग पूर्वक होनेवाले प्राणिरक्षारूप धर्म कैसे सिद्ध हो सकेगा । कहा भी है-----

घविवेक शून्य जो अज्ञानी आत्मा और शरीरमें सर्वथा भेद कहते हैं उनके यहाँ शरीरका घात होनेपर कैसे हिंसा हो सकती है यह खेदकी बात है । तथा जो शरीर और जीवमें सर्वथा अभेद मानते हैं उनके मतमें शरीरका विनाश होनेपर जीवका विनाश भी होनेसे कैसे परलोकके लिए धर्मका अनुष्ठान शोभित होता है ? उ घजिसके शास्त्रमें जीव और शरीरका एकान्तसे भेद माना है उनके यहाँ शरीरका विनाश होनेपर जीवके विनाशको कैसे रोका जा सकता है ? उ

घजवस्य हिंसा न भवेन्नित्यस्यापारिणामिनः ।

क्षणिकस्य स्वयं नाशात्कथं हिंसोपपद्यताम् []

असुभृतः-- प्राणिनः । अकार्यं--न हिंस्यात् सर्वभूतानीति शास्त्रे निषिद्धत्वान्न कर्तव्यं नित्यादिपक्षे तूक्तानीत्या कर्तुमशक्यं च । कथं--केन प्रकारेण मनोवाक्कायकृतकारितानुमननानां मध्ये न केनापि प्रकारेणेत्यर्थः । तथा चाह :-

षड्जीवनिकायवधं यावज्जीवं मनोवचःकायैः।

कृतकारितानुमननैरुपयुक्तः पीरहर सदा त्वाम् ॥ उ [] ॥२९॥

अथ प्राणातिपातादिहामुत्र च घोरदुर्निवारमपायं दर्शयित्वा ततोऽत्यन्तं शिवार्थिनो निवृत्तिमुपदिशति-----

कुष्ठप्रष्टैः करिष्यन्नपि कथमपि यं कर्तुमारभ्य चाप्त-

भ्रंशोऽपि प्रायशोऽत्राप्यनुपरममुपद्रूयतेऽतीवरौद्रैः ।

यं चक्रणाऽथ कुर्वन् विधुरमधरधीरेति यत्तत्कथास्तां-

कस्तं प्राणातिपातं स्पृशति शुभमतिः सोदरं दुर्गतीनाम् ॥३०॥

कुष्ठप्रष्टैः--कुष्ठजलोदरभगन्दरदिमहारोगैः । करिष्यन्--कर्तुमिच्छन् । आप्तभ्रंशः--प्राप्त- तत्करणान्तरायः । अत्रापि--इह लोकेऽपि । अनुपरमं--अनवरतम् । उपद्रूयते--पीडयाते । चक्रणः--कृतवान् ॥३०॥

इसलिए जो अहिंसारूप परमधर्मकी सिद्धिके अभिलाषी हैं उन्हें आत्माको शरीरसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए। इसी तरह सर्वथा नित्य आत्माकी तरह सर्वथा क्षणिक आत्माकी भी हिंसा सम्भव नहीं है क्योंकि वह तो क्षणिक होनेसे स्वयं ही नष्ट हो जाता है। कहा है --- घसर्वथा अपरिणामी नित्य जीवकी तो हिंसा नहीं की जा सकती, और क्षणिक जीवका स्वयं ही नाश हो जाता है। तब कैसे हिंसा बन सकती है।

इसलिए जीवको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानेनपर ही हिंसा सम्भव है। अतः अहंसारूप धर्मका पालन करनेके इच्छुक मुमुक्षुओको द्रव्यरूपसे नित्य और पर्याय रूपसे अनित्य जीव स्वीकार करना चाहिए। ऐसा जीव ही प्रमाणसे सिद्ध होता है। इस प्रकार जीवका स्वरूप निश्चित रूपसे जानकर जीवहिंसाका त्याग करना चाहिए। कहा भी है ---- घतू सदा, मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनसे छह कायके जीवोंकी हिंसा जीवनपर्यन्तके लिए छोड़ दे"॥२९॥

प्राणोंके घातसे इस लोक और परलोकमें ऐसी भयानक आपत्तियाँ आती हैं जिनको दूर करना सकना शक्य नहीं है इसलिए उससे मुमुक्षुको अत्यन्त दूर रहने का उपदेश देते हैं ----

जिस हिंसाको करनेकी इच्छा करनेवाला भी इसी जन्ममें अत्यन्त भयानक कुष्ठ आदि रोगोंसे निरन्तर पीडित रहता है। केवल उसे करनेकी इच्छा करनेवाला ही पीडित नहीं होता किन्तु जो आरम्भ करके किसी भी कारणसे उसमें बाधा आ जानेके कारण नहीं कर पाता वह भी इसी जन्ममें प्रायः भयंकर रोगोंसे पीडित होता है। जो उस हिंसाको कर चुका है अथवा कर रहा है वह कुबुद्धि जिस कष्टको भोगता है उसकी कथा तो कहीं नहीं जा सकती। अपने कल्याणका इच्छुक कौन मनुष्य दुर्गतियोंकी सगी बहन हिंसाके पास जाना भी पसन्द करेगा ॥३०॥

अथ हिंसाया दुर्गतिदुःखैकफलत्वमुदाहरणेन प्रव्यक्तीकर्तमाह ---

मध्ये मस्करजलि दण्डकवेने संयाध्य विद्यां चिरात्

कृष्टं शम्बुकुमारकेण सहसा तं सूर्यहासं दिवः।

धृत्वायान्तमसिं बलाद् रभसया तां च्छिन्दता तच्छिर ---

शिछन्नं यत्किल लक्ष्मणेन नरकेही तत्खरं भुज्यते ॥ ३१॥

मध्ये मस्करजालि --- वंशजालिमध्ये। चिरात् --- षण्मासात्। शम्बुकुमारकेण --- सूर्पणखापुत्रेण

|

रभसया --- अविश्यकारितया। तां --- वंशजालिम् ॥३१॥

अथ हिंसायाः परिणतिरिवाविरतिरपि हिंसात्वात्तत्फलप्रदेति हिंसा न करोमिति हिंसा न करोमिति स्वस्थं मन्यो भवान्माभूदिति ज्ञानलवदुर्विदग्धं बोधयति ---

स्थान्न हिंस्यां न नो हिंस्यामित्येव स्यां सुखीति स्यां सुखिती मा ।

अविरामोऽपि यद्दामो हिंसायाः परिणामवत् ॥३२॥

विशेषार्थ --- जो हिंसा करनेका विचार करता है और प्रारम्भ करके भी बाधा आ जानेसे कर नहीं पाता वह भी घ्रायःऽ इसी जन्ममें भयंकर रोंगोसे सदा पीडित रहता है । किन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि ऐसे लोगोंको इस जन्ममें कोई पीडा नहीं होती । इसलिए प्रायः पद किया है जो बतलाता है कि दैववश यदि उस जन्ममें पीडा नहीं होती तो जन्मान्तरमें अवश्य पीडा होती है । तथा हिंसाको दुर्गतियोंकी सगी बहन कहा है क्योंकि हिंसक जीवोको अवश्य ही नरकादि गतियोंमें जाकर दुःख उठाना पडता है ॥३०॥

हिंसाका एकमात्र फल दुर्गतिका दुःख है यह बात उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं ---

पद्मपुराणमें कहा है कि शम्बुकुमारने दण्डकवनमें बॉसोंके झुरमुटमें बैठकर छह मास तक विद्या सिध्द करकेसूर्यहास खड्ग प्राप्त करनेका उपक्रम किया था । जब वह खड्ग आकाशसे आया तो सहसा उसे ग्रहण करके लक्ष्मणने बिना विचारे बलपूर्वक उस वंशजानको उस खड्गसे काटा तो शम्बुकुमारका सिर कट गया । उसीका अतिदुःसह फल नरकम आज भी लक्ष्मण भोगते हैं यह बडे खेदकी बात है ॥३१॥

विशेषार्थ ---- पद्मपुराणमें कहा है कि जब रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साळ वनवासी होकर दण्डकवनमें पहुँचे तो वहाँ रावणकी बहन शूर्पणखाका पुत्र बॉसोंके झुरमुटमें बैठकर छह माससे विद्या सिध्द करता करता था । देपोपनीत् खड्ग आकाशमें लटक रहा था । लक्ष्मण वनमें घूमते हुए उधरसे निकाले और उन्होंने लपककर सूहास खड्ग हस्तगत कर लिया । उसकी तीक्ष्णता जाननेकेलिए उन्होने उसी बॉसोंके झुरमुटपर उसका प्रहार किया फलतः बॉसोंके साथ उनके भीतर बैठे शम्बुकुमारका सिर भी कट गया । यह घटना ही आगे चलकर सीताहरण और राम- रावणके युध्दमें कारण बनी । फलतः लक्ष्मण मरकर नरकमें गये ॥३१॥

आगे ग्रन्थकार अज्ञानीको समझो हैं कि हिंसा करनेकी तरह हिंसाका त्याग न करनेसे भी हिंसाका ही फल मिलता है इसलिए मैं हिंसा नहीं करता ऐसा मानकर आप निश्चिन्त न होवें ---

हे सुखके इच्छुक जीव ! मैं यदि अहिंसाका पालन नहीं करता तो हिंसा भी नहीं करता, अतः मुझे अवश्य सुख प्राप्त होगा, ऐसा मानकर मत बैठ । क्योंकि हिंसाके परिणाम

मा स्थात् --- मा भूद्वानित्यर्थः । अविरामः--- प्राणिनः प्राणान्न व्यपरोपयामिति संकल्पाकरणलक्षणमविरणम् । वामः--- प्रतिकूलो दुःखकारीत्यर्थः । परिणामवत् --- हिनस्मीति परिणतिर्यथा । उक्तं च ---

१. घहिंसाया अविरमणं वधपरिणामोऽपि भवति हिंसैव ।

तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्^६ [पुरुषार्थ. ४८] ॥३२॥

अथ हिंसाया अहिंसायाश्च परिपाटया फलोद्रेकं दृष्टान्तेन कथयित्वा अहिंसापरिणत्यै
स्वहितोद्यतान्नितान्तमुद्यमति ---

१. धनश्रियां विश्रुतदुःखपाकामाकर्ण्य हिंसा हितजागरुपका :।

छेतुं विपत्तीर्मृगसेनवच्च भिं वरीतु व्रतन्त्वहिंसाम् ॥३३॥

१. वरीत् --- संभक्तुम् । व्रतयन्तु --- वंतां (?) अहिंसायां परिणमतामित्यर्थ : ॥३३॥

कि तरह मा प्राणोंका घात नहीं करूंगा इस प्रकारके संकल्पका न करना रूप अविरति भी दुःखकारी है
॥३२॥

विशेषार्थ --- जबतक किसी बातका संकल्पपूर्वक त्याग नहीं किया जाता तबतक केवल उसे न
करनेसे ही उसके फलसे छुटकारा नहीं होता । संकल्पपूर्वक त्याग न करना ही इस बातका सूचक है कि
उस ओर प्रवृत्तिमें राग है । जैसे कोई आदमी किसी विषयका सेवन नहीं करता । उससे कहा जाये कि
तुम उसका त्याग कर दो तो वह त्याग करनेके लिए यदि तैयार नहीं होता तो स्पष्ट है उसे उस विषयसे
अरुचि नहीं है । और यह स्थिती विषय सेवनकी तरह ही दुःखकारक है । यही बात हिंसा न करते हुए भी
हिंसाका त्याग न करनेमें लागू होती है । कहा भी हे --- अहिंसासे विरक्त न होना और हिंसारूप परिणाम
भी हिंसा ही है । इसलिए प्रमादरूप आत्मपरिणामोंके होनेपर निरन्तर प्राणघात होता है । ३

क्रमये हिंसा और अहिंसाके उत्कट फलको दृष्टान्तके द्वारा प्रकट करके आत्महितमें तत्पर मुमुक्षु
जागरुप मुमुक्षु जनोंको विपत्तियोंको नष्ट करनेके लिए और लक्ष्मीका वराए करनेके लिए मृगसेनधीवरकी
तरह अहिंसापालनका व्रत लेना चाहिए ॥३३॥

विशेषार्थ --- रत्नकरखण्ड श्रावकाचारमें हिंसा नामक पापके करनेमें धनश्रीके प्रसिद्ध कहा है ।
धनश्री वणिक धनपालकी पत्नी थी । उसके एक पुत्र था और एक पुत्री थी । उनमें एक बालक कुण्डलको
पाला था । सेठको मरने पर धनश्री उस पालित कुण्डलमें अनरक्त हो गयी । जब उसका पुत्र समझदार
हुआ तो धनश्रीने उसे मारनेका प्रबन्ध किया । यह बात उसकी पुत्रीको ज्ञात हो गयी और उसने अपने
भाईको सावधान कर दिया । प्रतिदिन कुण्डल पशु चराने जंगलमें जाता था । एक दिन धनश्रीने अपने
पुत्रको पशु चराने भेजा । सावधान पुत्रने पशुओंको जंगलमें छोड़ दिया और एक टूँटको अपने वस्त्र
पहिराकर स्वयं छिप गया । पीछेसे कुण्डल उसे मारनेके लिये गया और उसने टूँटको गुणपाल जानकर
उसपर खड्गसे प्रहार किया । उसी समय गुणपालने उसी खड्गसे उसका वध कर दिया और घर लौट
आया । धनश्रीने उससे पूछा, कुण्डल कहाँ है ? रक्तसे सना खड्ग दिखा कर गुणपालने कहा --- इससे
पूछो । धनश्रीने तत्काल उसी खड्गसे अपने पुत्रको मार दिया । कोलाहाल होनेपर धनश्रीको पकड़कर
राजदरबारमें उपस्थित किया गया । राजाने उसके नाक कान काटकर गधे पर बैठाकर देशसे निकाल
दिया । मरकर उसने नरकादि गतिमें भ्रमण किया । इसी तरह मृग

अथ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितानभोजनभावनापत्रेण भाव्यमानमहिंसामहाव्रतं
स्थिरीभूय परं माहात्म्यमासादयतीत्युपदिशति ---

निगृह्यतो वाङ्.मनसी यथावन्मार्गं चरिष्णोर्विधिवद्यथार्हम् ।

आदाननिक्षेपकृतोऽन्नपाने दृष्टे च भोक्तुः प्रतपत्यहिंसा ॥३४॥

चरिष्णो :----साधुत्वेन पर्यटतः । विधिवत् --- शास्त्रोक्तविधानेने । यथार्ह --- यदसंयमपरिहारेणादातुं
निक्षेपुं च योग्यं ज्ञानसंयमाद्युपकरणं तदनतिक्रमेण । आदाननिक्षेपकृतः--- ग्रहणस्थापनकारिणः । दृष्टे --
- कल्पते (--- न कल्पते--) वेति चक्षुषा निरूपिते । भोक्तुः--- साधुभुज्जानस्य । प्रतपति ---
अव्याहतप्रभावो भवति ॥३४॥

सेन धीवर प्रतिदिन जाल लेकर मछली मारने जाता था । एक दिन एक साधुको उसने नमस्कार किया
और उनका उपदेश सुना । साधुने उससे कहा कि तुम्हारे जालमें जो पहली मछली आये उसे मत मारना
। उसने ऐसा हि किया । उस मछली पर निशानके लिए धागा बाँधकर जलमें छोड़ दिया । किन्तु उस दिन
पाँच बार वही मछली पर निशानके लिए धागा बाँधकर जलमें छोड़ दिया । किन्तु उस दिन पाँच बार वही
मछली उसके जालमें आयी और उसने उसे जलमें छोड़ दिया । इतनेमें सन्ध्या हो गयी और वह खाली
हाथ घर लौटा । उसकी पत्नीने उसे खाली हाथ देखकर द्वार नहीं खोला । वह बाहर ही सो गया और
साँपके काटनेसे मर गया । मरकर उसने दूसरे जन्ममें जिस तरह पाँच बार मृत्युके मखसे छुटकारा पाया,
उसकी रोचक कथा कथाकोश आदि ग्रन्थोंमें वर्णित है । अतः हिंसाको त्यागकर अहिंसा पालनका व्रत
लेना चाहिए ॥३३॥

आगे कहते हैं कि वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान
भोजन इन पाँच भावनाओंसे भाया गया अहिंसाव्रत स्थिर होकर उत्कृष्ट माहात्म्यको प्राप्त कराता है ---

जो मुमुक्षु संक्लेश, सत्कार, लोक प्रसिद्धी आदिकी चाहको त्यागकर वचन और मनका निरोध
करता है, शास्त्रोक्त विधानके अनुसार मार्गमें चलता है, असंयमको बचाते हुए ग्रहण करने और रखनेके
योग्य पुस्तकादि उपकरणोंका ग्रहण और निक्षेपण करता है तथा यह योग्य है या नहीं इस प्रकार
आँखोंसे देखकर अन्न पानको खाता है, उसकी अहिंसा बढी प्रभावशाली होती है ॥३४॥

विशेषार्थ --- अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ आगममें कही हैं --- वचन गुप्ति, मनोगुप्ति,
ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन । इन्हीका स्वरूप ऊपर कहा है और
आगे भी कहेंगे । इन भावनाओंसे अहिंसाकी पुष्टि होती हैं । वचनका निरोध करनेसे कठोर आदि वचनसे
होने वाली हिंसा नहीं होती । मनका निरोध होनेसे दर्विचारसे होनेवाली हिंसा नहीं होती । ईर्या समिति
पूर्वक चलनेसे मार्ग चलनेसे होनेवाली हिंसा नहीं होती । देखकर उपकरणोंको ग्रहण करने और देखकर
रखनेसे उठाने- धरनेमें होनेवाली हिंसा नहीं होती । देखकर दिनमें खानपान करनेसे भोजन- सम्बन्धी
हिंसाका बचाव होता है । साधुको इतनी ही क्रियाएँ तो करनी पडती है । यदि प्रमादका योग न हो तो हिंसा
हो नहीं सकती । अतः सदा अप्रमादी हाकर ही प्रवृत्ति करना चाहिए । तभी अहिंसाका पालन पूरी तरहसे
सम्भव है ॥३४॥

अथैतद्भवावनावतां निजानुभावभरनिर्भरमहिंसामहाव्रती दूरमारोहतीति प्रतिपादयितुमाह ---

२. सम्यक्त्व - प्रभुशक्ति- सम्पदमल- ज्ञानामृतांशुद्धिदति---

निःशेषव्रतरत्नखानिरखिलक्लंशाहिताक्षर्याहतिः।

आनन्दातसिन्धुरभ्दुतगुणामर्त्यागभोगावी

श्रीलीलावसतिर्यशः प्रसवभूः प्रोदेत्यहिंसा सताम् ॥३५॥

१. शक्तिसम्पत् --- शक्तित्रयी । अयमर्थः--- यथा विजिगीषु :

धमन्त्रशक्तिर्मतिबलं कोशदण्डबलं प्रथो ।

प्रभुशक्तिश्च विक्रान्तिबलमुत्साहशक्तिता ॥ []

६ इति शक्तित्रयेण शत्रून्मूलयति एवं सम्यक्त्वं कर्मशत्रून्हिंसया । अमृतांशु :--- चन्द्रः। द्रुतिः---
निर्यासः ।

तथा चोक्तम् .---

घसर्वेषां समयानां हृदयं गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम् ।

व्रतगुणशीलादीनां पिण्डः सारोऽपि चहिंसां"[]

१. ताक्षर्याहतिः--- गरुडाघातः। अमर्त्यागाः--- कल्पवृक्षाः। भोगावनी--- देवकुरुप्रमुखभोगभूमिः ।

यथाऽसौ कल्पवृक्षेः संततं संयुक्तं तथा अहिंसा जगच्चमत्कारकारिभिस्तपःसंयमसादिभिर्गुणैत्यर्थः।

श्रीलीलाव ---

१५ सतिः--- लक्ष्म्या लीलागृहं निरातङ्कतया सुखावस्थानहेतुत्वात् ॥३५॥

अथ व्दादशभिः पद्यैः सत्यव्रतं व्याचिकीर्षुरसत्यादीनां हिंसापर्यायत्वात्तद्विरतिरप्याहिंसाव्रतमेवेति

ज्ञाययति --- आत्मेत्यादि ---

आगे कहते हैं कि इन भावनाओंको भानेवाले साधुओंका अहिंसा महाव्रत, जो पालन करनेवालेकेन्द्र भावों पर निर्भर है, उन्नत होता है ---

अहिंसा सम्यग्दर्शनरूपी राजाकी शक्तिरूप सम्पदा है, निर्मलज्ञानरूपी चन्द्रमाका निचोड है, समस्त व्रतरूपी रत्नोंके लिए खान है, समस्त क्लेशरूपी सर्पोंके लिए गरुडका आघात है, आनन्द रूपी अमृतके लिए समुद्र है, अभ्दुतगुण रूपी कल्पवृक्षोके लिए भोग भूमि है, लक्ष्मीको विलासके लिए घर है, यशकी जन्मभूमि है । उक्त आठ विशेषाणोंसे विशिष्ट अहिंसा असाधारण रूपये शोभायमान होती है ॥३५॥

विशेषार्थ --- जैसे जीतनेका इच्छुक राजा मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्तिसे सम्पन्न होने पर शत्रुओका उन्मूलन करता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन अहिंसाके द्वाररा कर्मरूपी शत्रुओकां नष्ट करता है। निर्मल ज्ञानका सार अहिंसा ही है। कहा भी है --- अहिंसा समस्त सिद्धान्तोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोका गर्भ है, व्रत, गुण, शील आदिका पिण्ड है। इस प्रकार अहिंसा सारभूत है^६ अहिंसामें- से ही व्रतोंका निकास होता है। तथा .जैसे गरुडकी चोंचके प्रहारसे सर्प भाग जाते हैं वे ही अहिंसे सब क्लेश दूर होते हैं। जैसे समुद्रसे अमृत निकालता है वैसे ही अहिंसासे आनन्द रूप अमृत पैदा होता है। जैसे उत्तरकुरु आदि भोगभूमि सदा कल्प वृक्षो पूर्ण रहती है वैसे ही अहिंसा, तप, संयम आदि गुणोंसे पूर्ण होती है। अहिंसकके घरमें छ्मीका आवास रहता है और जगत् में उसका यश छाया रहता है। इस प्रकार अहिंसा महाव्रतका स्वरूप तथा माहात्म्य जानना ॥३५॥

आगे बारह श्लोकोंसे सत्यव्रतका कथन करते हुए बताते हैं कि असत्य आदि सभी पाप हिंसाकी ही पर्याय है अतः उनका त्याग भी अहिंसा व्रत ही है ----

आत्महिंसनहेतुत्वाद्धिसैवासूनृताद्यपि ।

भेदेन तद्विरत्युक्तिः पुनरज्ञानुकम्पया ॥३६॥

आत्मानो हिंसनं शुद्धपरिणामोपमर्दः स एव हेतुरस्य तद्भावात् प्रमत्तयोगैकहेतुकत्वादित्यर्थः। उक्तं च ---

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥' [पुरुषार्थ. ४२] ॥३६॥

अथ सत्यव्रतस्वरूपं निरूपयान्नाह---

अनृताद् विरतिः सत्यव्रतं जगति पूजितम् ।

अनृतं त्वाभिधानं स्याद् रागाद्यावेशतोऽसत्ः ॥३७॥

अनृतात् --- असत्ययोग्यादात्मपरिणामात् तस्यैव कर्मबन्धनिन्धनत्वेन वस्तुवृत्त्या परिहार्यत्वात् , तन्निमित्तिकपौद्गलिकवचनस्य व्यवहारेणव परिहार्यत्वसमर्थनात् । असतः--- अशोभनस्य कर्मबन्धनिमित्तवचनस्य इत्यर्थः : ॥३७॥

केवल प्राणोका घात ही हिंसा नहीं है किन्तु असत्य बोलना वगैरह भी हिंसा है क्योंकि उससे भी आत्मा की हिंसा होती है। फिर भी सत्य आदिका अहिंसासे पृथक् कथन मन्दबुद्धि लोगों पर कृपाकी भावनासे किया गया है ॥३६॥

विशेषार्थ---- हिंसाका लक्षण जो प्रमत्तयोगसे प्राणोंका घात कहा है वह झूठ , चोरी, कुशील और परिग्रह इन सभी पापोंमें घटित होता है क्योंकि ये सभी पाप आत्माके शुद्ध परिणामोंके घातक है । आत्मामें किसी भी प्रकारका विकार भाव उसका घातक होता है । अतः विकार मात्र हिंसा है । झूठ बोलनेका भाव, परायी वस्तुको चुरानेका भाव, स्त्री भोगका भाव, धन- सम्पत्तिके अर्जन, संचय और संरक्षणका भाव ये सभी विकार भाव हैं । आत्माका इनसे घात होता है, आत्मा अपने शुद्ध परिणाम रूप स्वभावसे च्युत होकर अशुद्ध रूप परिणमन करता है उसका यह परिणमन ही हिंसा है । अतः विकार मात्र हिंसा है किन्तु मन्द बुद्धि लोग इसको नहीं समझते । इसीसे सत्यव्रत आदि चार व्रतोंका पृथक् कथन किया है । कहा भी हे--- धआत्माके परिणामोंके घातमें कारण होनेसे ये सभी हिंसा रूप है फिर भी असत्य वचन आदिका कथन शिष्योंको समझाने के उद्देश्यसे किया है ॥३६॥

आगे सत्यव्रतका स्वरूप कहते हैं ---

रागद्वेषरूप परिणामोंके आवेशसे अशोभनीय वचनोंके बोलनेको अनृत कहते हैं । उस अतके त्यागको सत्यव्रत कहते हैं । यह सत्यव्रत जगत् में पूजनीय है ॥३७॥

विशेषार्थ --- जैनधर्ममें प्रत्येक व्रत आत्मपरिणाम रूप है । अतः यहाँ अतसे असत्य वचन योगरूप आत्मपरिणाम लिया गया है क्योंकि वही कर्मबन्धमें निमित्त होनेसे वास्तवमें त्यागने योग्य है । वचन वर्गणा के अवलम्बनसे वाक्परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन- चलन होता है उसे वचन योग करते हैं । उसके चार भेदोंमें- से एक भेद असत्य वचन योग है वही वस्तुतः त्यागने योग्य है । उस योगमें निमित्त जो पौद्गलिक वचन हो व्यवहारसे ही उनके त्याग समर्थन होता है । धअसत्का अर्थ है अप्रशस्त, अशोभन ।

१. धअसदभिधानमनृतम् । --- त. सू. ७।१४।

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।

तदनृतं विज्ञेयं तभेदाः सन्ति चत्वारः॥ --- पुरुषार्थ, ९१ श्लो. ।

अथ चतुःप्रकारमनृतं सोदाहरणं निरूप्य तत्परिहारं त्रिविधेन विधापयितुमार्याध्वयमाह ---

१. नाकालेऽस्ति नृणां मृतिरिति सत्प्रतिषेधनं शिवेन कृतम् ।

क्षमादीत्यसदुभ्दावनमुक्षा वाजिति विपरीतम् ॥३८॥

सावद्याप्रियगहितभेदात्त्रिविधं च निन्द्यमित्यनृतम् ।

दोषोरगवल्मीकं त्यजेच्चतुर्धापि तत्त्रेधा ॥३९॥ [युग्मम्]

१. अकाले--- आयुस्थितिकालदन्यदा । नृणां --- चरमदेविर्जकर्मभूमिमनुष्याणाम् । सत्प्रतिषेधनं---

अकालेऽपि विषवेदनादिना विद्यमानस्य मरणस्य निषेधनम् । तदुक्तम् ---

और जिससे प्राणीको कष्ट पहुँचता है वह वचन अप्रशस्त है भले ही वह सत्य हो । जैसे काने आदमीको काना कहना यद्यपि सत्य है तथापि पीडाकारक होनेसे वह असत्यमें ही सम्मिलित है ॥३७॥

चार प्रकारके असत्यका उदाहरणपूर्वक निरूपण करके मन-वचन-कायसे उनका त्याग करनेके लिए दो आर्या छन्द कहते हैं ---

असत्यके चार भेद हैं --- सत्का निषेध, असत्का उद्भावन, विपरीत और निन्द्य । चरमशरीरीके सिवाय अन्य कर्मभूमिया मनुष्योंका अकालमें मरण नहीं होता ऐया कहना सत्प्रतिषेध नामक प्रथम असत्य है । पृथिवी, पर्वत, वृक्ष आदिको ईश्वरने बनाया है ऐसा कहना असत् उद्भावन नामक दूसरा असत्य है । गायको घोडा कहना विपरीत नामक तीसरा असत्य है । और निन्द्य नामक चतुर्थ असत्यकेतीन भेद हैं --- सावद्य, अप्रिय और गर्हित । यह चारों ही प्रकारका असत्य दोषरूपी सर्पोंकेलिए वामीके समान है । अतः मन- वचन- कायसे उसका त्याग करनस चाहिए ॥ ३८-३९ ॥

विशेषार्थ --- षअसदभिधानमनृतम्ड इस सूत्रका व्याख्यान करते हुए अक्लकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (७।१४।५) में यह शंका उठायी है कि घमिथ्याऽनृतम्ड ऐसा लघु सूत्र क्यों नहीं बनाया ? उसके समाधानमें कहा है कि मिथ्या शब्दका अर्थ विपरीत होता है । अतः ऐसा सूत्र बनानेसे भूत (सत्) निहव (निषेध) और अभूत (असत्) का उद्भावन ही झूठ कहलायेगा । जैसे आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है या आत्मा चावलके बराबर या अँगूठेके पर्व बराबर है या सर्वव्यापक है । जो वचन विद्यमान अर्थका कथन करते हुए भी प्राणीको अप्रशस्त वचन हे वह असत्य नहीं कहा जायेगा । किन्तु षअसत्ड कहनेसे जितना भी अप्रशस्त वचन है वह सब असत्य कहा गया है । भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकांमे षअसंतवयणड का अर्थ अशोभन वचन किया है और जिस वचनसे कर्मबन्ध हो उसे अशोभन कहा है । आचार्य पूज्यपाद और अकलकने असत्का अर्थ अप्रशस्त किया है और अप्रशस्त तथा अशोभन एकार्थवाचक हैं । फिर भी उक्त दोनों आचार्योंने प्राणिपीडाकारक वचनको अप्रशस्त कहा है । और विजयोदया टीकाके कर्ताने कर्मबन्धके कारण वचनको अशोभन कहा है । उसमें आगे यह शंका उठायी है कि वचन आत्माका परिणाम नहीं है वह तो पुद्गल नामक द्रव्य है । अतः बन्ध अथवा बन्धस्थितिमें निमित्तभूत जो मिथ्यात्व, असंयम,

१. भग. आ., ८२४-८३२ गा।

२. घपरिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुब्धिं पयत्तेणं ।

धत्तं पि संजयंतो भासादोसेण लिप्पादि हुं --- भ. आ., ८२३ गा।

घविसवेयणरत्तक्खयभयसत्यग्गाहरसंक्लिसेहि ।

आहारोस्सासाणं निरोहओ छिज्जदे आऊं [गो. कर्म. ५७]

क्ष्मादि --- क्षितिर्भवति वृक्षादिकम् । इति प्रकारार्थमो नास्ति सुराणामकाले मृत्युरित्यावेद्यम् ॥३८॥

त्रेधा ---- मनोवाक्कायै : ॥३९॥

कषाय और योगरूप आत्मपरिणाम है वही त्याज्य है, असत् वचनके त्यागका उपदेश अनुपयोगी है। इसके उत्तरमें कहा है --- कृत कारित अनुमतके भेदसे असंयम तीन प्रकारका है। घमै इस मनुष्यको इस असंयममें प्रवृत्त करता हूँ अथवा इस वचनके द्वारा असंयममें प्रवृत्त हुए मनुष्यकी अनुमोदना करता हूँ इस प्रकारके अभिप्रायके बिना ऐसे वचन नहीं निकाल सकते। अतः उस वचनमें कारणभूत अभिप्राय आत्मपरिणामरूप होता है और वह कर्मबन्धमें निमित्त होता है इसलिए उसे त्यागना चाहिए। उसके त्यागनेपर उसका काय वचन भी छूटा जाता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्य नहीं होता। अतः आचार्यने इस क्रमसे असत् वचनका त्याग कहा है। अप्रामादी होकर सभी प्रकारके असत् वचनोंका त्याग करना चाहिए; क्योंकि संयम धारण करके भी और उसका अच्छी तरह पालन करते हुए भी मनि भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है। यहाँ भाषा से वचनयोग नामक आत्मपरिणाम लेना चाहिए। अर्थात् दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे उत्पन्न हुए कर्मसक आत्मा लिप्त होता है। इस असत्य वचनके चार भेद हैं --- सत्का निषेध करना प्रथम असत्य है जैसे यह कहना कि मनुष्यकी अकालमें मृत्यु नहीं होती। यहाँ कालसे मतलब है आयुका स्थितिकाल। उस कालसे भिन्न काल अकाल है। यद्यपि भोगभूमिके मनुष्योंका अकालमें मरण नहीं होता किन्तु जो चरमशरीरी होते हैं उनके सिवाय शेष कर्मभूमिके मनुष्योंका अकाल- मरण आगममे कहा है। यथा --- छउपपाद जन्मवाले देव नारकी, चरमशरीरी मनुष्य और असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमिया जीवोकी आयुका विष शस्त्रदिसे घात नहीं होता" इससे सिद्ध है कि अकालमें भी विषादिके द्वारा मरण हो सकता है। कहा भी है --- घविष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, संक्लेश और आहार तथा श्वासके रुकनेसे आयु छीज जाती हैं^६ अस्तु।

असतका उभ्दावन --- जो नहीं है उसे घडैड कहना दूसरा असत्य है। जैसे देवोकी अकाल- मृत्यु कहना या जगत् को ईश्वरका बनाया हुआ कहना। गायको घोडा कहना तीसरा विपरीत नामक असत्य है। चतुर्थ भेद निन्द्य है। भ.आ.में. भी असत्यके चार भेद कहे हैं और उन्हीका अनुसरण इस ग्रन्थके रचयिता पं. आशाधरने किया है। किन्तु तीसरे असत्य का नाम विपरीत और चतुर्थ असत्यका नाम निन्द्य न भ. आ.में है और न पुरुषार्थ. में। पुरुषार्थ में (९२-९४) आचार्य अमृतचन्द्रने इन असत्योका स्वरूप जिस रूपमें कहा है वह जैन दार्शनिक शैलीके अनुरूप है। तदनुसार घ्रस्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावसे विद्यमान

१. स्वक्षेत्रकालभावै : सदपि हि यस्मिन्नधिष्यते वस्तु ।

तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।

उभ्दाव्यते द्वितीयं तदनुत्तमस्मिन् यथास्ति घटः ॥

अथ चतुर्विधस्याप्यनृतस्य दोषानाह ---

१. यद्विश्वव्यवहारविप्लवकरं यत्प्राणिधाताद्यघ---

द्वारं यद्विषशस्त्रपावकतिस्कारोऽधुरांहेकृति ।

यन्त्लेच्छेष्वपि गर्हितं तदनृतं जल्पन्न चेद्रौरव ---

प्रायाः पश्यति दुर्गतीः किमिति ही जिह्वाच्छिदाद्यान् कुधी : ॥४०॥

१. यत् --- सत्प्रतिषेधनाद्यनृतत्रयं, यत् सावद्याख्यामनृतम् । प्राणीत्यादि । तद्यथा --- पृथिवी खन् , स्नाहि शीतोदकेन, पचापूपम् , प्रसमनमुच्चिनु, चौरोऽयामित्यादि । यत् सत्प्रतिषेधनाद्यनृतत्रयं यत् सावद्याख्यमनृतं यत् गर्हिताख्यमनृतं कर्कशादि । तदुक्तम् ---

१. घैशुन्यहास्यगर्भ कर्कशमसमज्जसं प्रलपितं च ।

अन्यदपि यदुत्तूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्" [पुरुषार्थसि. ९६]

गर्हितं --- निन्दितं किमिति न पश्यतीत्यत्रापि योज्यम् । जिह्वाच्छिदाद्यान् --- जिह्वायाच्छिदा छेदनमाद्यो

२. येषां विषाग्न्युदकाद्यसहन- स्वजनामानव- मित्रविरक्ति- सर्वस्वहरणाद्यपायानाम् ॥४०॥

वस्तुका भी जिसमें निषेध किया जाता है वह पहला असत्य है । जैसे देवदत्तके होते हुए भी कहना कि यहाँ देवदत्त नहीं है । परक्षेत्र, परकाल और परभावसे असत् भी वस्तुको सत् कहना दूसरा असत्य है । जैसे घडेके अभावमें भी घडेका सभ्दाव कहना । स्वरूपसे सत् भी वस्तुको पररूपसे कहना तीसरा असत्य है जैसे गायको घोडा कहना । चतुर्थ असत्यके सामान्यसे तीन भेद हैं --- गर्हित, सावद्य और अप्रिय । कर्कश चवन, निष्ठुर वचन, दूसरोंके दोषसूचक वचन, हास्यपरक वचन तथा जो कुछ भी वृथा गकवादरूप वचन है वे सब गर्हित वचन हैं । जिस वचनसे हिंसा आदि दोषोंमें प्रवृत्ति हो उसे सावद्य वचन कहते हैं । जैसे पृथ्वी खोदो, भैसे दुहो, फूल चुनो । जो वचन बैर, शोक, कलह, भय खेद आदि उत्पन्न करता है उसे अप्रिय वचन कहते हैं । इन सभी असत्य वचनोंमें प्रमादका योग ही कारण है इसलिए असत्य बोलनेमें हिंसा अवश्य हाती है । अतएव असत्य बोलना त्याज्य है । [भग.आ.८३० --३२ । पुरुषार्थ. ९६-९९ श्लो.] ॥३८-३९॥

चारों ही प्रकारके असत्य वचनके दोष कहते हैं ---

जो प्रथम तीन प्रकारके असत्य सभी लैकिक और शास्त्रीय व्यवहारोंका नाश करनेवाले हैं, सावद्य नामक असत्य वचन हिंसा, चोरी, मैथुन आदि पापोंका द्वार है, अप्रिय नामक असत्यका उत्कट अहंकार तो विष, शस्त्र और अग्निसे होनेवाले विनाशका भी तिरस्कार करता है । निन्दित वचन तो सब धर्मोंमें बहिष्कृत म्लेच्छोंमें भी निन्द्य माने जाते हैं । इन असत्य वचनोंको बोलनेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य जब रौरव नरक आदि दुर्गतियोंको हि नहीं देखता तो हाय वह जिह्वाका छेदन आदि छह लैकिक अपायोंको कैसे देख सकता है ? ॥४०॥

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।

अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्व ॥

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।

सामान्येन त्रेधा मतिमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ --- पुरुषार्थ. ९२- ९५ श्लो. L

अथाभ्दुतानुभावभूयसस्तथा (- भूयस्तया) सूनृतवचसो नित्यसेव्यताभुपदिशति ----

विद्याकामगवीशकृत्करिमरिप्रातीप्यसर्पोषधं,

कीर्तिस्वस्तिनी हिमाचलतटं शिष्टाब्दाषण्डोष्णगुम् ।

वाग्देवीललनाविलासकमलं श्रीसिन्धुवेलाविधुं,

वित्र्वोद्धारचणं गृणन्तु निपुणाः शत्र्वद्वचः सूनृतम् ॥४१॥

कामगवी-- कामधेनुः । तदुत्कम् ---

सत्यं वदन्ति मुनयो मुनिभिर्विद्या विनिर्मिताः सर्वाः ।

म्लेच्छानामपि विद्या सत्यभृतां सिद्धिमायान्ति ॥ []

शकृत्करि :--- वत्सः । अरीतयादि -- शत्रुकृतापकारपन्नगप्रतिकर्तृ । स्वस्ताटिनी---आकाशगग्डा

|

उष्णगुः--आदित्यः । विश्वोद्धारचणं--त्रिजगदनुग्रहणप्रतीतम् । गृणन्तु---भाषन्ताम् ॥४१॥

विशेषार्थ -- सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार सत्यपर प्रतिष्ठित हैं । यदि सर्वत्र असत्यका ही चलना हो जाये तो लोकमें देन--लेनका व्यवहार , व्यापार आदि सब गडबड हो जाये । कोई किसीका विश्वास ही न करे । यदी स्थिति शास्त्रीय व्यवहारोंकी भी हो जाये क्योंकि तब कौन विश्वास करेगा कि शास्त्रकारोंने जो कुछ कहा है वह सत्य है ? ओर तब कैसे लोग शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करेंगे ? अतः विश्वका सभी व्यवहार लुप्त हो जायेगा । इसी तरह यदि लोग इसे मारों, उसे काटो , अमुकका धन छीन लो, अमुककी स्त्री भगा लो जैसे सावद्य वसनों पर उतर आयें तो पापाचारका ही राज्य हो जावे । अप्रिय वचन तो विष , शस्त्रधान और आगसे भी अधिक दुःखदायक होते है । कहावत है कि तीरका घाव भर आता है किन्तु तीखी बाणीका घाव नहीं भरता । तथा गाली -गलौज तो बीच पुरुषोंमें भी अच्छी नहीं मानी जाती । इस प्रकारके असत्य वचनोका दुष्फल इसी जन्ममें राजदण्डके रूपमें मिलती है । जब उसका ही भय लोग नहीं करते तब दुर्गतिका भय भला कैसे कर सकते हैं ? यह बडे दुःख और खेदकी बात है ॥४०॥

प्रिय और सत्य वचनके अनेक आश्चर्यकारक प्रभाव होनेसे उसका नित्य आचरण करनेका उपदेश देते हैं-

सत्य वचन विद्यारूपी कामधेनुका बच्चा है, शत्रुओंकेद्वारा किये गये अपकाररूपी सर्पका इलाज है, कीर्तिरूप गग्डाकेउद्गमकेलिए हिमाचल पर्वत है, शिष्ट पुरुषरूपी कमलवचको विकसित करनेकेलिए सूर्य है, सरस्वतीरूपी ललनाका क्रीडाकमल हे, लक्ष्मीरूपी समुद्रकी वेलाके लिए चन्द्रामा है । यतः सत्य वचन इन छह विशेषताओंको लिए हुए है अतः जगत्का विपत्तियोंसे उद्धार करनेमें समर्थ है । इसलिए सूक्ष्मदृष्टिवाले विचारशील पुरुषोंको सदा सत्य वचन बोलना चाहिए ॥४१॥

विशेषार्थ--विधिपूर्वक साधन करनेसे जो सिद्ध होती है उसे विद्या कहते हैं। विद्याएँ इच्छित पदार्थोंको देती हैं इसलिए उन्हें कामधेनु कहा है। जैसे कामधेनु अपने बछड़ेके संयोगसे इच्छित अर्थ दूध देती है वैसे ही सत्य वचनके संयोगसे ही विद्या इच्छित मनोरथोंको पूर्ण करती है। कहा भी है-- मुनिगण सत्य बोलते हैं इसलिए मुनियोंने सब विद्याओंका निर्माण किया है। सत्य बोलनेवाले म्लेच्छोंकी भी विद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं।

सत्यवादीका शत्रु भी अपकार नहीं करते। जैसे हिमालयसे गंगा निकलकर फैलती है वैसे ही सत्यरूपी हिमालयसे कीर्तिरूपी गंगा निकलकर फैलती है, सत्यवादीका यश सर्वत्र

अथ सूनुतलक्षणमाह ---

सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनुतं सूनुतव्रताः ।

तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥४२॥

सत्यं--सत्युत्पादव्ययधौव्यात्मन्यर्थे साधु कुशलं सत्सु वा साधु हितं वचः । अप्रियं---कर्कशादिवचसामपि मूषाभाषणदोषकारित्वाविशेषात् । तदुत्कम्---

इहलोक परलोकेयेऽनुतवचनस्य वर्णिता दोषाः ।

कर्कशावचनादीनां त एव दोषा निबोधद्वयाः ॥ [] ॥४२॥

अथ साधुना सज्जनसोहित्याय समये वक्तव्यमित्यनुशास्ति---

साधुरत्नाकरः प्रोद्ययापीयूषनिर्भरः ॥

समये सुमनस्तृप्त्यै वचनामृतमुदिगरेत् ॥४३॥

समये---प्रस्तावे प्रवचनविषये वा । सुमनसः---सज्जना देवाश्च ॥४३॥

फैलता है। जैसे सूर्यके उदित होते ही कमलोंका वन खिल उठता है उसी तरह ज्ञानसे विनम्र शिष्ट जन भी सत्यसे खिल उठते हैं। सरस्वती भी सत्यवादीपर रीझती है और लक्ष्मी भी बढ़ती है। अतः सदा सत्य ही बोलना चाहिए ॥४१॥

सत्यका स्वरूप कहते हैं---

जिन्होंने सत्य ही बोलनेका व्रत लिया है वे सत्य प्रिय और हित वचनको सत्यवचन कहते हैं। जो अप्रिय और अहितकारक है वह सत्य भी सत्य नहीं है ॥४२॥

विशेषार्थ - सत्य शब्द सत् शब्दसे बना है। उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक वस्तुको सत् कहते हैं। उसमें जो साधु अर्थात् कुशल हो वह सत्य है। अथवा सत्का अर्थ सज्जन भी है। जो साधु पुरुषोंमें हितकारक वचन है वह सत्य है। अर्थात् जिस वचनसे किसी तरहका विसंवाद उत्पन्न न हो वह अविसंवाद वचन सत्य है। सत्य होनेके साथ ही प्रिय भी होना चाहिए जिसे सुनकर कान और हृदय आनन्दका अनुभव करें। किन्तु प्रिय होनेके साथ हितकारी भी होना चाहिए। किन्तु जो सत्यवचन अप्रिय और अहितकारक है वह सत्य नहीं है क्योंकि असत्य भाषणमें जो दोष हैं वे सब दोष कर्कशा आदि वचनोंमें भी हैं। कहा भी है - 'इस लोक और परलोकमें झूठ बोलनेके जो दोष कहे हैं वे ही दोष कर्कशा वचन आदिके भी जानना चाहिए' ॥ ४२ ॥

साधुओंको सज्जन पुरुषोंका सच्चा हित करनेके लिए समयके अनुसार बोलना चाहिए ऐसी शिक्षा देते हैं-

उछलते हुए दया रू पी अमृतसे भरे हुए साधु रू पी समुद्रको देवताओंकेतुल्य सज्जनोंकी तृप्तिके लिए प्रसंगकेअथवा आगम केअनुसार वचन रू पी अमृतको कहना चाहिए ॥ ४३ ॥

विशेषार्थ - हिन्दू पुराणोंकेअनुसार जब देवताओं पर संकट आया तो उन्होंने समुद्र का मन्थन किया और समुद्रने उन्हें अमृत दिया जिसे पीकर वे अमर हो गये । उसी रू पक केअनुसार साधु तो समुद्रके समान होता है क्योंकि समुद्रकी तरह ही उसमें गम्भीरता आदि गुण पाये जाते हैं । और जैसे समुद्रमें अमृत भरा है वैसे ही साधुमें दया रू पी अमृत भरा होता है । सुमन देवोंको भी कहते हैं और सज्जनोंको भी । अतः जैसे समुद्रने समय पर देवोंको अमृतसेतृप्त किया था वैसे ही साधुओंको समयानुसार सज्जन पुरुषोंको वचनामृतसे

अथ मुमुक्षोर्मौनं स्वार्थाविरोधेन वक्तव्यं चोपदिशति -

मौनमेव सदा कुर्यादार्यः स्वार्थकसिद्धये ।

स्वैकसाध्ये परार्थे वा ब्रूयात् साध्याविरोधतः ॥ ४४ ॥

मौनमित्यादि । उक्तं च -

मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।

वचो वातिप्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारि यत् []

तथा -

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे क्रियाध्वंसे स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे ।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने" [] ॥ ४४ ॥

अथ क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च भावयता सत्यव्रतमुच्चैरुद्योत्यमिति शिक्षार्थमाह -

तृप्त करना चाहिए । समय आगमको भी कहते हैं और समय प्रसंगको भी कहते हैं । अतः साधुको प्रसंगके अनुसार तो बोलना ही चाहिए, साथ ही आगमका भी ध्यान रखकर आगमके अनुसार बोलना चाहिए । आगमसे विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए ॥ ४३ ॥

साधुओंको मुख्यतासे मौन ही रखना चाहिए । यदि बोलना पड़े तो स्वार्थके अविरुद्ध बोलना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं -

गुणवान मुनिको केवल एक स्वार्थकी सिद्धिके लिए सदा मौन ही रखना चाहिए, बोलना नहीं चाहिए । किन्तु यदि कोई ऐसा परार्थ हो जो केवल अपने ही द्वारा साथ हो तो स्वार्थका घात न करते हुए ही बोलना चाहिए ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ - वचनका प्रयोग तो दूसरोंकेजिए ही किया जाता है। अतःस्वार्थरत साधुको जहाँतक शक्य हो मौन ही रहना चाहिए। वचनका प्रयोग तभी करना चाहिए जब उसकी परोपकारकेलिए अत्यन्त आवश्यकता हो। किन्तु उस समय भी स्वार्थको ध्यानमें रखकर ही बोलना चाहिए। यों तो लोकमें सामान्य जन भी स्वार्थको हानि न पहुँचे ऐसा ध्यान रखकर ही बोलते हैं। इसीसे वे चोरी करकेभी उसे छिपाते हैं, झूठ बोलकर भी सत्यवादी होनेका नाटक रचते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि यदि हमने सच बोला तो पकड़े जायेंगे, आर्थिक हानि होगी। उनका स्वार्थ एकमात्र विषय और कषायका पोषण होता है। किन्तु साधुका स्वार्थ है आत्महित। अपनी आत्माका जिसमें हित हो वही उनका स्वार्थ है। उसीकी साधनाकेलिए वे साधु बने हैं। उसकी साधनामें ता मौन ही सहायक है वार्तालाप नहीं। कहा है -

घसर्व अर्थाकी सिद्धिकेलिए पुरुषोंको सदा मौन ही हितकर है। अथवा यदि मौन शक्य न हो तो ऐसा अतिप्रिय सत्य वचन बोलना चाहिए जो सब प्राणियोंका उपकारी हो। तथा यदि धर्मका नाश होता हो, क्रियाकाण्ड ध्वंस होता हो अथवा अपने सिध्दान्तके अर्थमें बिगाड होता हो तो उनका स्वरूप प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी बोलना चाहिए॥ ४४ ॥

आगे क्रोध लोभ, भय और हास्यका त्याग तथा निर्दोष भाषण इन पाँच भावनाओंको भाते हुए सत्यव्रतकेअच्छी तरह उद्योतनकी शिक्षा देते हैं -

हत्वा हास्यं कफवल्लोभमपास्यामवभ्ययं भित्वा ।

वातवदपोह्य कोपं पित्तवदनुसूत्रयेद् गिरं स्वस्थः ॥ ४५ ॥

कफवत् - जाडयमोहादिहेतुत्वात्. आमवत् - अतिदुर्जयविकारत्वात् । आमलक्षणं यथा -

ध्रुष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमानद्यमपाचितम् ।

दुष्टमामाशयगतं संतमामं प्रचक्षते ॥६

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ।

कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य संभवम्"[अष्टाडहृदय १३।२५-२६]

वातवत् - मनोविप्लवादिहेतुत्वात् । अपोह्य - निषिद्धय । पित्तवत् - संतामभूयिष्ठत्वात् । अनुसूत्रयेत् इ सूत्रानुसारेणाचक्षीत । स्वस्थः - परद्रव्यव्यासङ्गरहितो निर्व्याधिश्च ॥ ४५ ॥

अथ सत्यमृषाभाषिणोः फलविशेषमाख्यानमुखेन ख्यापयन्नाह -

सत्यवादीह चामुत्र मोदते धनदेववत् ।

मृषायादी सधिककारं यात्यधो वसुराजवत् ॥ ४६ ॥

स्पष्टम् ॥ ४६ ॥

स्वस्थ मनुष्यको कफकी तरह हास्यका निग्रह करके आँवकी तरह लोभको दूर करके वातकी तरह भयको भगाकर और पित्तकी तरह कोपको रोककर सूत्रको अनुसार बोलना चाहिए ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ - तत्त्वार्थ सूत्र (७।५) तथा चरित्तपाहुडमें सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ कही हैं । सत्यव्रतकी उनको पालन अवश्य करना चाहिए । जो स्वमें स्थित है वह स्वस्थ है । शारीरिक दृष्टिसे तो जो नीरोग है वह स्वस्थ है और आध्यात्मिक दृष्टिसे जो परद्रव्यविषयक आसक्तिसे रहित है वह स्वस्थ है । शारीरिक स्वस्थताके लिए वात-पित्त-कफ और आँवका निरसन आवश्यक हैं क्योंकि जिसके वात-पित्त-कफ और आँवका निरसन आवश्यक है क्योंकि जिसके वात-पित्त-कफ समान है, अग्नि समान है, धातु और मलकी क्रिया समान है उसे स्वस्थ कहते हैं । आध्यात्मिक स्वस्थताके लिए भी क्रोध, लोभ, भय, हँसी, मजाकको छोड़ना जरूरी है क्योंकि मनुष्य क्रोध आदिके वशीभूत होकर झूठ बोलता है ॥ ४५ ॥

सत्य भाषण और असत्य भाषणका फल विशेष उदाहरणके द्वारा कहते हैं -

सत्यवादी मनुष्य धनदेवकी तरह इस लोक और परलोकमें आनन्द करता है । और झूठ बोलनेवाला राजा वसुकी तरह निरस्कृत होकर नरकमें जाता है ॥ ४६ ॥

विशेषार्थ - आगममें सत्यव्रतका पालन करनेमें धनदेव प्रसिद्ध है । वह एक व्यापारी था । जिनदेवके साथ व्यापारीके लिए विदेश गया । दोनोंका लाभमें समभाग ठहरा । लौटनेपर जिनदेव अपने वचनसे मुकर गया किन्तु धनदेव अपने वचनपर दृढ़ रहा । राजाने उसका सम्मान किया । राजावसु नारद और पर्वतका सहपाठी था । जब नारद और पर्वतमें छजैर्यष्टव्यम् के अज शब्दको लेकर विवाद हुआ और दोनों वसु राजाकी सभामें न्यायके लिए पहुँचे तो राजा वसुने गुरुपुत्र पर्वतका पक्ष लेकर अजका अर्थ बकरा ही बतलाया अर्थात् बकरेके मांससे यज्ञ करना चाहिए । नारदका कहना था कि अजका अर्थ तीन वर्षका

१. क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानानुवीचिभाषणं च पञ्चड । त. सू. ७।५।

अथ - घजनान्त-सम्मति-न्यास-नाम-रू प-प्रतीतिषु ।

सत्यं संभावने भावे व्यवहारोपमानयोःड - [अमित. पं. सं. १।१६९]

इति दसप्रकारसत्यमुदाहरणद्वारेण प्रचिकटयिषुराह -

सत्यं नाम्नि नरेश्वरो, जनपदे चोरोऽन्धसि, स्थापने

देवोऽक्षादिषु, दारयेदपि गिरिं शीर्षेण संभावने ।

भावे प्रासु, पचौदनं व्यवहृतौ, दीर्घः प्रतीत्येति ना

पल्यं चोपमितौ सितः शशधरो रूपेऽम्बुजं सम्मतौ ॥ ४७ ॥

नरि - मनुष्यमात्रे, ईश्वरः - ऐश्वर्याभावेऽपि व्यवहारार्थमीश्वर इति संज्ञाकरणं नामसत्यमित्यर्थः ।
अन्धसि - भक्ते चौर इति व्यपदेशो जनपदसत्यम् । तत्र स्वार्थे नियतत्वेन तस्य रू ढत्वात् । अक्षादिषु -
पाशकादिषु देवोऽयमिति न्यसनं स्थापनासत्यम् । संभावने - वस्तुति तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूते
कार्ययोग्यतादर्शनात् । अन्ये पुनरस्य स्थाने संयोजनासतयमाहुः । यच्चारित्रसारे-

धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्यमकर-हंस-सर्वताभद्र-क्रोञ्चव्यूहादिषु वा चेतनेतरद्रव्याणां यथाभागाविधानसंनिवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् । भावे प्रासु तथाहि इ छद्यस्थज्ञानस्य द्रवययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वस्तुभ्दावसत्यम् । निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्यादिकं वा अहिंसा -

पुराना धान्य है जो बोनेपर उगता नहीं । राजा वसु मरकर नरकमें गया । इसकी विस्तृत कथा सोमदेव उपासकाचारमें देखनी चाहिए । महाभारतमें भी इसी तरहकी कथा है ॥ ४६ ॥

आगममें दस प्रकारका सत्य कहा है - नाम सत्य, जनपद सत्य, स्थापना सत्य, सम्भावना सत्य, भाव सत्य, व्यवहार सत्य, प्रतीत्य सत्य, उपमा सत्य, रूप सत्य और सम्मति सत्य । इनका उदाहरण पूर्वका कथन करते हैं -

मनुष्यमात्रमें ऐश्वर्यका अभाव होनेपर भी व्यवहारके लिए ईश्वर नाम रखना नाम- सत्य है । किसी देशमें भातको चोर कहते हैं । यह जनपद सत्य है क्योंकि उस देशकी भाषामें चोर शब्द इसी अर्थमें नियत है । अक्ष आदिमें घ्यह देव हैइ इस प्रकारकी स्थापनाको स्थापना सत्य कहते हैं । पाशा वगैरहको अक्ष कहते हैं । अमुक्त व्यक्ति सिरसे भी पर्वतको तोड़ सकता है यह सम्भावना सत्य है । ऐसा वास्तविक रूपमें नहीं होनेपर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यताको देखकर ऐसा कहा जाता है । छद्यस्थ जीवोंका ज्ञान यद्यपि द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको देखनेमें असमर्थ है फिर भी मुनि और श्रावक अपने धर्मका पालन करनेके लिएयह प्रासुक हैयह अप्रासुक है इत्यादि जो कहते हैं वह भावसत्य है । जिसमें- से जीव निकल गये हैं उसे प्रासु या प्रासुक कहते हैं । यह अहिंसारूप भावके पालनका अंग होनेसे भाव सत्य कहा जाता है । चावल पकाये जाते हैं किन्तु लोकमें प्रचलित व्यवहारका अनुसरण करके जोभात पकाओऐसा वचन कहा जाते हैं वह व्यवहार सत्य है । किसी मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षासे लम्बा देखकरलम्बा मनुष्यऐसा कहना प्रतीत्य सत्य है । उपमान रूपसे जो सत्य है उसे उपमा सत्य कहते हैं जैसे आगममें पल्योपम प्रमाणकी उपमा पल्य (गड्ढ) से दी जाती है या स्त्रीकेमुखको चन्द्रमा की उपमा दी जाती है । रूपमें जो सत्य है वह रूप सत्य है । जैसे चन्द्रमाको श्वेत कहना, यद्यपि चन्द्रमामें काला धब्बा है किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है । जो लोकमतमें सत्य है वह सम्मति सत्य है जैसे कमल कीचड़ आदि अनेक कारणोंसे पैदा होता है फिर भी लोकमें उसे अम्बुज - जो पानीमें जन्मा हो, कहते हैं ॥ ४७ ॥

लक्षणभावपालनाडत्वात् । पचेत्यादि सिध्देऽप्योदने लोकव्यवहारानुसरणम्, तन्दुलान्पचैति वक्तव्ये षओदनं पचड इति वचनं व्यवहारसत्यम् । दीर्घ इत्यादि - ना पुरुषो दीर्घोऽयमित्यापेक्षिकं वचः प्रतीत्यसत्यमित्यर्थः । उपमितौ - उपमानसत्यं यथा पल्योपमं चन्द्रमुखी कान्तेत्यादि । रूपे - रूपसत्यं यथा सितः शशधरः सतोऽपि लाञ्छने काष्ण्यस्याविवक्षा । सम्मतौ - लोकाविप्रतिपत्तौ, यथाऽम्बुजं पडाद्यनककारणत्वेऽप्यम्बुनि जातम् ।

इत्थं वा -

घ्देशेष्टस्थापनानामरूपपापेक्षाजनोक्तिषु ।

संभावनोपमाभावेऽपि सत्यं दशात्मना ॥
 ओदनोऽप्युच्यते चौरा राज्ञी देवीति सम्मता ।
 दृषदप्युच्यते देवो दुर्विधोऽपीश्वराभिधः ॥
 दृष्टाधरादिरागापि कृष्णकेऽपि भारती ।
 प्राचुर्याच्छ्वेतरु पस्य सर्वशुक्लेत सा श्रुता ॥
 ह्रस्वापेक्षो भवेद्दीर्घः पच्यन्ते किल मण्डकाः ।
 अपि मुष्टया पिनष्टीन्द्रो गिरीन्द्रमपि शक्तितः ॥
 अतद्रूपाऽपि चन्द्रास्या कामिन्युपमयोच्यते ।
 चौरा दृष्टेऽप्यदृष्टोक्तिरित्यादि वदतां नृणाम् ॥
 स्यान्मण्डलाद्यपेक्षायां सत्यं दशविधं वचः । []

विशेषार्थ - पं. आशाधरने अपनी टीकामें अभितगतिके संस्कृत पञ्च संग्रहसे श्लोक उद्धृत किया है और तदनुसार ही द भेदोंका कथन किया है। संस्कृत पञ्च संग्रह प्रा. पं. सं. का ही संस्कृत रूपान्तर है किन्तु उसमें सत्यके दस भेद नहीं गिनाये हैं। गो. जीवकाण्ड में गिनाये हैं। सं. पं. सं. में भी तदनुसार ही हैं।

श्वे. स्थानांग सूत्र (स्था. १०) में भी सत्यके दस भेद गिनाये हैं - उसमें सम्भावनाके स्थानमें योग सत्य है। योगका अर्थ है सम्बन्ध। सम्बन्धसे जो सत्य है वह योग सत्य है, जैसे दण्डके सम्बन्धसे दण्डी कहना, छत्रके सम्बन्धसे छत्री कहना। कुछ सत्योंके स्वरूपमें भी अन्तर है। सम्मत सत्यका स्वरूप - कुमुद, कुवलय, उत्पल, तामरस ये सभी पंक (कीचड) से पैदा होते हैं फिर भी ग्वाले तक भी इस बातसे सम्मत हैं कि अरविन्द ही पंकज है। अतः सम्मत होनेसे अरविन्दको पंकज कहना सत्य है। कुवलयको पंकज कहना असत्य है क्योंकि सम्मत नहीं है। रूपसत्यका उदाहरण - बनावटी साधुको साधुका रूप धारण करनेसे रूपकी अपेक्षा साधु कहना रूपसत्य है। भावसत्य - जैसे बगुलोंकी पंक्तिको ऊपरी सफेदी देखकर सफेद कहना, यद्यपि अन्दरसे वह वर्ण है।

तत्त्वार्थवार्तिकमें (१।२०) सत्यके दस भेदोंका कथन है। यथा - नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृत्ति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय सत्य। इसमें संवृत्ति, संयोजन, देश और समय ये चार नाम भिन्न हैं। रूपसत्यका उदाहरण- अर्थ नहीं रहनेपर भी रूपमात्रसे कहना। जैसे चित्रमें अंकित पुरुषमें चैतन्यरूप अर्थके नहीं होनेपर भी पुरुष कहना। सादि, अनादि, औपशमिक आदि भावोंको लेकर जो वचन व्यवहार होता है

१. जणवय सम्मय ठवणं नामे रूपे पडुच्च सच्चे य ।

ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्म सच्चे य ॥

यत्तु नवधा असत्यमृषारू पमनुभयं वचस्तदपि मार्गावरोधेन वदतां न
सत्यव्रतहानिरनृतनिवृत्त्यनतिवृत्तेः ।

तथा चोक्तम् -

असत्यमसत्यालोकव्यलीकदोषादिवर्जमनवद्यम् ।
सूत्रानुसारिवदतो भाषासमितिर्भवेच्छुद्धा ॥ []

तद्यथा -

याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयन्यपि ।
आह्वानीच्छानुकूला वाक्प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा ॥
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता, जिनैः ।
व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञानं वक्तुः श्रोतुश्च यश्चदेत् ॥ []

अत्र वृत्तिश्लोकत्रयम् -

त्वामहं याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किञ्चन ।
पृष्टुमिच्छामि किञ्चित्त्वामानेष्यामि च किञ्चन ॥
बालः किमेष वक्तीति ब्रूत संदेग्धि मन्मनः ।
आह्वयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञां तव प्रभो ॥

वह प्रतीत्य सत्य है । इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है । चारित्रसारमें भी यही लक्षण दिया है और उसका उदाहरण दिया है यह पुरुष लम्बा है । लोकमें जो वचन संवृत्तिसे लाया गया हो उसे संवृत्ति सत्य कहते हैं । जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणोंके होनेपर भी पंकमें उत्पन्न होनेसे पंकज कहते हैं । पं. आशाधरजीने तथा स्थानांगमें इसे सम्मति सत्य कहा है । सम्भवतया सम्मतिके स्थानमें ही संवृत्ति सत्य अकलंक देवने रखा है । गो. जीवकाण्डमें लोकोंकी सम्मतिके अनुसार जो सत्य हो उसे सम्मति सत्य कहा है जैसे राज्याभिषेक होनेसे पट्टरानी होती है । धूप, उपटन आदिमें या कमल, मगर, हंस, सर्वतोभद्र आदि सचंतन- अचेतन वस्तुओंमें आकार आदिकी योजना करनेवाला वचन संयोजना सत्य है । जनपद सत्यकी तरह ही ग्राम-नगर आदिकी वाणी देशसत्य है । आगमगम्य छह द्रव्य और पर्यायोंका कथन करनेवाले वचन समयसत्य हैं । इस तरह सत्यके भेदोंमें अन्तर पाया जाता है । उक्त श्लोकमें घृत्यं च काचशब्द अनुक्तके समुच्चयकेलिए है । उससे नौ प्रकारके अनुभयरूप वचनका भी ग्रहण किया है क्योंकि मार्गका विरोध न करते हुए उस वचनके बोलनेसे सत्यव्रतकी हानि नहीं होती । कहा भी है - अलीक आदि दोषोंसे रहित निर्दोष और सूत्रके अनुसार सत्य और अनुभव वचन बोलनेवाले साधुकी

भाषासमिति शुद्ध होती है। अनुभय वचनके नौ भेद इस प्रकार हैं - जिस वचनसे दूसरेकी अपने अभिमुख किया जाता है उसे आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। जैसे, हे देवदत्त। यह वचन जिसने संकेत ग्रहण किया उसकी प्रतीतिमें निमित्त है और जिसने संकेतग्रहण नहीं किया उसकी प्रतीतिमें निमित्त

१. आशाधरेण स्वरचितमूलाराधनादर्पणे सिध्दान्तरत्नमालायामेवमित्युक्त्वा ऐते श्लोका उद्धृताः (भ. आ. शोलापुर पृ. ११९५)।

२. आमंतणी आणवणी जायणी संपुच्छणी य पणवणी।

पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छणुलोमा य ॥

संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्टमी भासा।

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेयाड ॥ भग. आरा., ११९५-९६ गा.।

घर्केचित्त्वां त्याजयिष्यामि हुं करोत्यत्र गौः कुतः।

याचन्यादिषु दृष्टान्ता इत्थमेते प्रदर्शिताः ॥ []

किं च, अहमयोग्यं न ब्रवीमीत्येतावता सत्यव्रतं पालितमिति मुमुक्षुणा नाश्वसनीयं यावता परेणोच्यमानमप्यसत्यवचनं शृण्वतोऽशुभपरिणामसंभवात् कर्मबन्धो महान् भवतीत्यसत्यस्य वचनमिव श्रवणमपि यत्नतः साधुना परिहार्यम्। तदुक्तम् -

नहीं है। इस तरह दो रूप होनेसे न सत्य है और न झूठ। स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत होओ इस प्रकारकी अनुशासनरूप वाणी आज्ञापनी है। इस आदेशको दूसरा व्यक्ति पाले या न पाले, इसलिए यह वचन न एकान्तसे सत्य है और न असत्य। आप ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि या पीछी आदि देवें इस प्रकार याचना करनेको याचनी भाषा कहते हैं। दाता देवे या न देवे, इस अपेक्षा यह वचन भी अनुभयरूप है। किसीसे पूछना कि क्या तुम्हें जेलमें कष्ट है, पृच्छनी भाषा है। यदि कष्ट है तो सत्य है नहीं है तो असत्य है। अतः पृच्छवचन न सत्य है और न असत्य है। धर्मकथाको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह बहुत-से श्रोताओंको लक्ष करके की जाती है। बहुत-से लोग उसके अनुसार करते हैं, बहुत-से नहीं करते। अतः इसे भी न सत्य कह सकते हैं और न झूठ। किसीने गुरुसे न कहकर घमें इतने समय तक अमुक त्याग करता हूँ ऐसा कहा। ह प्रत्याख्यानी भाषा है। पीछे गुरुने कहा कि तुम अमुक वस्तुका त्याग करो। उसके पहले त्यागका काल अभी पूरा नहीं हुआ इसलिए उसका पहला किया हुआ त्याग एकान्तसे सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञासे उस त्यागको पालता है इसलिए कोई दोष न होनेसे झूठ भी नहीं है अतः अनुभयरूप है। ज्वरसे ग्रस्त रोगी कहता है घी और शक्करसे मिश्रित दूध अच्छा नहीं है, दूसरा कहता है अच्छा है। माधुर्य आदि गुणोंके सभ्दाव तथा ज्वरकी वृद्धिमें निमित्त होनेसे अच्छा हैं नहीं है उ ऐसा कहना न तो सर्वथा झूठ ही है न सत्य ही है अतः अनुभयरूप है। यह टूँठ है या पुरुषा; यह संशय वचन है। यह भी दोनोंमें-से एकका सभ्दाव और दूसरेका अभाव होनेसे न सत्य है

और न झूठ । अपराजित सूरिने अपनी विजयोदया टीकामें अँगुली चटकाने आदिके शब्दको अनक्षरी भाषा कहा है । ध्वनि और भाषामें अन्तर है । ताल्वादि परिस्पन्दसे जो शब्द होता है उसे भाषा कहते हैं । अतः गो. जीवकाण्डकी टीकामें जो द्वीन्द्रिय आदि की भाषाको अनक्षरी भाषा कहा है वह ठीक प्रतीत होता है । दशवैकालिक सूत्रमें उक्त प्रथम गाथामें कहे हुए भेद तो आमन्त्रणीसे लेकर इच्छानुलोमा पर्यन्त वही हैं । बल्कि गाथा भी वही हैं । दूसरीमें भेद है । यथा -

अनभिगृहीत भाषा, जैसे डित्थ (जिसका कुछ अर्थ नहीं ।) अभिगृहीत भाषा - जैसे घट । जिस शब्दके अनेक अर्थ होनेसे सुननेवाला सन्देहमें पड जाये वह संशयकरणी भाषा है । जैसे सैन्धव । सैन्धवके अनेक अर्थ होते हैं । व्याकृत भाषा, जिससे स्पष्ट अर्थ प्रकट हो । जैसे यह देवदत्तका भाई है । अव्याकृत भाषा - जिससे स्पष्ट अर्थबोध न हो । जैसे

१. आमंतणि आणवणी जायणि तह पुच्छणी अ पन्नवणी ।

पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छणुलोमा य ॥

अणभिग्गहिया भासा भासा अ अभिग्गहम्मि वोधव्वा ।

संसयकरणी भासा वायड अब्वायडा चेव ॥ - दशवै., ७ अ., ४२-४३ गा. ।

तव्विवरीदं सव्वं कज्जे काले मिदं सविसए य ।

भत्तादिकहारहिदं भणाहि तं चेव य सुणाहिं [भ. आरा. ८३४ गा.] ॥ ४७ ॥

अथ एकादशभिः पद्यैरचौर्यव्रतं व्याचिख्यासुःस्तेये दोषख्यापनपुरःसरं तत्परिहारमुपदेष्टुं तावदिदमाह -

दौर्गत्याद्युग्रदुःखाग्रकारणं परदारणम् ।

हेयं स्तेयं त्रिधा राद्धुमहिंसामिष्टदेवताम् ॥ ४८ ॥

दौर्गत्यं - नरकादिगतिर्दारिद्र्यं वा । आदिशब्दाद् वधबन्धादि । तदुक्तम् -

वधबन्धयातनाश्च छायाघातं च परिभवं शोकम् ।

स्वयमपि लभते चौरौ मरणं सर्वस्वहरणं च ॥ []

इत्यादि । परदारणं - परस्य धनपतेः परमुत्कृष्टं वा दारणं विनाशनम् । तदुक्तम् -

धर्मोऽपहते पुरुषः प्रोन्मत्तो विगतचेतनो भवति ।

म्रियते कृतहाकारो रिक्तं खलु जीवितं जन्तोः ॥ []

बालकोंकी भाषा । इस प्रकार ये सब वचन अनुभयरूप होते हैं । अस्तु, तथामें अयोग्य नहीं बोलता इसीलिए कि मैंने सत्यव्रत पाला है मुमुक्षुको इतनेसे ही आश्वस्त नहीं होना चाहिए । क्योंकि दूसरेके द्वारा कहे गये असत्य वचनको सुननेसे भी अशुभ परिणामोंका होना सम्भव है और उससे महान् कर्मबन्ध होता है इसलिए असत्य बोलनेकी तरह असत्य सुननेसे भी साधुको यत्नपूर्वकवचन चाहिए । कहा है -

हे मुमुक्षु ! तू असत्य वचनसे विपरीत सब सत्य वचनोंको बोल । ज्ञान-चारित्र आदिकी शिक्षावाला, असंयमसे बचानेवाला, दूसरेको सन्मार्गमें स्थापन करनेवाला वचन बोल । समयके अनुरूप मितवचन बोल । तथा भोजनकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा, और राजकथासे रहित वचन बोल । और इसी प्रकारके वचन सुन । वचन सुननेसे भी पाप होता है । इस प्रकार सत्यमहाव्रतका स्वरूप जानना ॥ ४७ ॥

आगे ग्यारह श्लोकोंसे अचौचव्रतका व्याख्यान करनेकी इच्छासे चोरीकी बुराइयाँ बतलाते हुए उसके त्यागका उपदेश देते हैं -

चोरी नरक आदि गति अथवा दारिद्र्य आदि दुःखोका प्रधान कारण है और जिसका धन चुराया जाता है उसके विनाशका कारण है । इष्ट देवता रूप अहिंसाकी आराधनाके लिए मन-वचन-कायसे चोरीका त्याग करना चाहिए ॥ ४८ ॥

विशेषार्थ - मूलव्रत अहिंसा है उसीके पालनके लिए शेष व्रत हैं । अतः पराये द्रव्यको चुराना, अनुचित साधनोंसे उसे लेना लेनेवालेके लिए भी दुःखदायक है और जिसका धन लिया जाता है उसके लिए भी दुःखकारक है अतःहिंसा है । लोकमें ही चोरको राजदण्ड भोगना होता है, जेलखानेका कष्ट उठाना पडता है । मारपीटकर लोग उसे अधमरा कर डालते हैं । पुराने समयमें चौरका सर्वस्व हर लिया जाता था । तथा धन मनुष्योंका दूसरा प्राण होता है । धन चुराये जानेपर उसका स्वामी पागल हो जाता है , उसकी चेतना लुप्त हो जाती है और अन्तमें वह अपने परिवारके साथ सुखपूर्वक जीवन बिताता है । धन चुराये जानेपर उसका सुख और जीवन दोनों ही चले जाते हैं । अतः किसी भी प्रकारके अनुचित साधनसे पराये धनको हरनेका विचार ही छोड़ने योग्य है । अनुचित साधनोंसे धनवान

तथा -

जीवति सुखं धने सति बहुपुत्रकलत्रमित्रसंयुक्तः।

धनमपहरता तेषा जीवितमप्यपहृतं भवति" [] ॥ ४८ ॥

अथ द्रविणापहारः प्राणिनां प्राणाहार इति दर्शयति -

त्रैलोक्येनाप्यविक्रेयाननुप्राणयतोऽङ्किनाम् ।

प्राणान् रायोऽणकः प्रायो हरन् हरति निर्घृणः ॥ ४९ ॥

अविक्रेयान् । यदाहुः -

भुवनतलजीविताभ्योमेकं कश्चिद् वृणीष्व देवेन ।
इत्युक्तो भुवनतलं न वृणीते जीवितं मुक्त्वा ॥
यस्माद् भुवनमशेषं न भवत्येकस्य जीवितव्यार्थः ।
एकं व्यापादयतो तस्माद् भुवनं हतं भवति ॥ []

अनुप्राणयतः - अनुगतं वर्तयतः। रायः - धनानि । अणकः- निकृष्टः । प्रायः- बाहुल्येन,
प्रगतपुण्यो वा । यदाहुः -

पापास्त्रवणद्वारं परधनहरणं वदन्ति परमेव ।
चौरः पातरोऽसौ शौकरिकव्याधजारेभ्यः ॥ [] ॥ ४९ ॥

अथ चौरस्य मातापित्रादयोऽपि सर्वत्र सर्वदा परिहारमेवेच्छन्तीत्याह -

दोषान्तजुषं जातु मातापित्रदयो नरम् ।
संगृह्णन्ति न तु स्तेयमषीकृष्णमुखं क्वचित् ॥ ५० ॥

बननेपर उस धनको दूसरे लोग हथियानेकी कोशिश करते हैं । अतः जो दूसरोंका धन हरता है
पहले वह दूसरोंको दुःख करता है । पीछे अपना धन हरे जानेपर स्वयं दुखी होता है । अतः यह कर्म
मन वचन कायसे छोडने योग्य है । न तो मनमें किसीका एक पाई भी चुरानेका विचार करना चाहिए, न
ऐसा करनेकेलिए किसीसे कहना चाहिए और न स्वयं ऐसा करना चाहिये ॥ ४८ ॥

आगे कहते हैं कि किसीके धनका हरना उसके प्राणोंका हरना हैं -

तीनों लोकोंके भी मूल्यसे जिन प्राणोंको नहीं बेचा जा सकता उन प्राणोंकी समानता करनेवाले
धनको हरण करनेवाले निर्दयी नीच मनुष्य प्रायः प्राणियोंके प्राणोंको हरता हैं ॥ ४९ ॥

विशेषार्थ - यदि कोई कहे कि यदि तू मुझे अपने प्राण दे देवे तो मैं तुझे तीनों लोक दे दूँ । फिर
भी कोई अपने प्राण ऐसी वस्तु है जिनका कोई मूल्य नहीं हो सकता । धन भी मनुष्यका ऐसा ही प्राण है
। फिर भी नीच मनुष्य सदा दूसरोंको धन हरनेकेलिए आतुर रहते हैं । ऐसे धनहारी चोर पशु-पक्षियोंका

शिकार करनेवालोंसे भी अधिक पापी हैं । कहा है -पर धनके हरणको पापास्त्रवका उत्कृष्ट द्वार कहते हैं । इसलिए चोर व्यक्ति पशु पक्षीका शिकार करनेवालोंसे और दुराचारियोंसे भी अधिक पापी है॥ ४९ ॥

चोर केमाता-पिता आदि भी सर्वत्र सर्वदा उससे दूर ही रहना चाहते हैं -

चोरीकेसिवाय अन्य अपराध करनेवाले मनुष्यको तो माता-पिता वगैरह कदाचित्

दोषान्तरजुषं - स्तेयादन्यस्यापराधस्य भक्तारम् । उक्तं च -

अन्यापराधबाधामनुभवतो भवति कोऽपि पक्षेपि ।
चौर्यापराधभाजी भवति न पक्षे निजोऽपि जनः ॥
अन्यस्मिन्नपराधे ददति जनावासमातमनो गेहे ।
माताऽपि निजे सदने यच्छति वासं न चौरस्य ॥ []

क्वचित् - देशे काले वा ॥ ५० ॥

अथ चौरस्यातिदुःसहदुःखपातकबन्धं निबोधयति -

भोगस्वाददुराशयार्थलहरीलुब्धोऽसमीक्ष्यैहिकी,
स्वस्य स्वैः सममापदः कटुतराः स्वस्यैव चामुष्मिकीः ।
आरुह्यासमसाहसं परधनं मुष्णन्नधं तस्कर -
स्तत्किंचिच्चिनुते वधान्तविपदो यस्य प्रसूनश्रियः ॥ ५१ ॥

लहरी - प्राचुर्यम् । यदाहुः -

लोभे पुनःप्रवृद्धे कार्याकार्यं नरो न निन्तयति ।
स्वस्याविगण्य मृतिं साहसमधिकं ततस्तनुते ॥ []

स्वैः - बन्धुभिः । आमुष्मिकीः - नरकादिभवाः ॥ ५१ ॥

अथ स्तेयतन्निवृत्त्योः फलं दृष्टान्तमुखेनाचष्टे -

श्रुत्वा विपत्तीः श्रीभूतेस्तद्भवेऽन्यभवेष्वापि ।
स्तेयात्तद्ब्रतयेन्माढिमरोदुं वारिषेणवत् ॥ ५२ ॥

व्रतयेत । माढिं - पूजाम् ॥ ५२ ॥

अपना भी लेते हैं । किन्तु चोरीकी कालिमासे अपना मुख काला करनेवाले मनुष्यको किसी भी देश और किसी भी कालमें माता-पिता वगैरह भी आश्रय नहीं देते ॥ ५० ॥

आगे कहते हैं कि चोरकेअत्यन्त दुःसह दुःखोंकेहेतु पापका बन्ध होता है -

भोगोंको भोगनेकी खोटी आशासे मनुष्य एक साथ बहुत- सा धन प्राप्त करनेके लोभसे चोरी करता है । उस समय वह यह नहीं देखता कि इस कार्यसे इसी जन्ममें मुझे और मेरे सम्बन्धी जनोंको कितना कष्ट भोगना होगा तथा परलोकमें अकेले मुझे ही यहाँसे भी अधिक कष्टकर विपत्तियाँ भोगनी होंगी । जीवन तककी बाजी लगाकर असाधारण साहसके साथ वह पराया धन चुराता है । उससे वह इतने तीव्र पापकर्मका बन्ध करता है कि उसमें ऐसी विपत्तिरू पी फूल खिलते हैं । जिसकेअन्तमें उसके त्यागका फल बतलाते हैं -

आगे दृष्टान्तकेद्वारा चोरी और उसकेत्यागका फल बतलाते हैं -

चोरीके दोषसे उसी भवमें तथा अन्य भवोंमें भी श्रीभूतिकी विपत्तियोंको सुनकर वारिषेणकी तरह अतिशय पूजित होनेकेलिए चोरीका त्याग करना चाहिए ॥ ५२ ॥

विशेषार्थ - जैन कथा ग्रन्थोंमें चोरीमें श्रीभूति पुरोहितकी कथा वर्णित है । श्रीभूति राजपुरोहित था, शास्त्रोंका पण्डित था । सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेसे वह सत्यघोष नामसे विख्यात था । उसका सब विश्वास करते थे । एक बार एक वणिक् पुत्र समुद्रयात्राके लिए जाते समय अपने बहुमूल्य सात रत्न उसकी स्त्रीके सामने श्रीभूतिके पास धरोहर रख गया । लौटते समय समुद्रमें तूफान आ जानेसे उसका सर्वस्व समुद्रमें डूब गया । जिस

भूयोऽपि स्तेयदोषान् प्रकाशयंसतद्विरतिं दृढयति --

गुणविद्यायशःशर्मधर्ममर्माविधः सुधीः ।

अदत्तादानतो दूरे चरेत् सर्वत्र सर्वथा ॥ ५३ ॥

गुणाः- कौलीन्यविनयादयः । यदाहुः -

सुतरामपि संयमयन्नादायादत्त मनागपि तृणं वा ।

भवति लघुः खलु पुरुषः प्रत्ययविरहो यथा चौरः॥ []

किसी तरह प्राण बचे तो उसने श्रीभूतिसे अपने रत्नोंकी याचना की । उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी और उसके पास कुछ प्रमाण भी नहीं था । फलतः श्रीभूतिने वणिक्पुत्रको तिरस्कृत करके घरसे निकाल दिया । इतना ही नहीं, किन्तु राजासे भी ओरसे उत्तेजित कर दिया तब उस बुद्धिमान् वणिक् पुत्रने दूसरा मार्ग अपनाया । राजाकी चिल्लाता कि श्रीभूति मेरे अमुक रू प-रंगके रत्नोंको नहीं देता । मैंने उसके पास धरोहरके मुझे सूली दे दी जाये । इस तरह चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह मास बीत गये । एक दिन रानीका ध्यान उसकी ओर गया । उसने श्रीभूतिको द्यूत-क्रीडाके लिए आमन्त्रित किया । श्रीभूति द्यूत-क्रीडाका रसिक था । रानीने द्यूत-क्रीडामें जीती हुई वस्तुओंको प्रमाणरूपमें दिखाकर अपनी धायके द्वारा श्रीभूतिकी पत्नीसे सातों रत्न प्राप्त कर लिये और राजाको दे दिये । राजाने उन रत्नोंको अनेक रत्नोंमें मिलाकर वणिक्पुत्रको बुलाया और उससे अपने रत्न चुननेके लिए कहा । उसने अपने रत्न चुन लिये । यह देखकर राजाने वणिक्पुत्रकी प्रशंसा की और श्रीभूतिका सर्वस्व हरण करके गधेपर बैठाकर अपने देशसे निकाल दिया ।

वारिषेण राजा श्रेणिकका पुत्र था । बड़ा धर्मात्मा था । एक दिन चतुर्दशीकी रात्रिमें वह उपवासपूर्वक श्मशानमें ध्यानस्थ था । उसी दिन एक चोर हार चुराकर भागा । रक्षकोंते देख लिया । वे उसके पीछे भागे । श्मशानमें जाकर चोरने वह हार वारिषेणके पास रख दिया और वहाँसे भाग गया । रक्षकोंने वारिषेणको चोर मानकर राजा श्रेणिकसे शिकायत की । श्रेणिकने उसके वधकी आज्ञा दे दी । ज्यों ही जल्लाद ने तलवारका वार किया, तलवार फूलमाला हो गयी । तब वारिषेणका बड़ा सम्मान हुआ और उन्हें निर्दोष मान लिया गया ॥ ५२ ॥

पुनः चोरी की बुराइयों बतलाकर उससे विरत होनेका समर्थन करते हैं -

दूसरेके द्वारा दिये गये बिना उसके धनको लेनेसे कुलीनता-विनय आदि गुण, विद्या, यश, सुख और धर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं । अतः उससे सब देशोंमें, सब कालमें और सर्व प्रकारसे दूर ही रहना चाहिए ॥ ५३ ॥

विशेषार्थ - जिनागममें चोरीके लिए अदत्तादान शब्द का प्रयोग किया है, जो उससे व्यापक होनेसे विशेष अर्थका बोधक है । साधारण तो चोरी परायी वस्तुके चुरानेको कहते हैं । किन्तु अदत्तादानका अर्थ है बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण । बिना दी हुई वस्तुको स्वीकार करना चोरी है । यदि मार्गमें किसीकी वस्तु गिर गयी है या रेलमें कोई व्यक्ति कुछ सामान भूल गया है तो उसको ले लेना भी चोरी ही है । हमें ऐसी वस्तुको भी नहीं उठाना

वसतिविकृतिउर्हवृसीपुस्तककुण्डीपुरःसरं श्रमणैः ।

श्रामण्यसाधनमवग्रहविधिना ग्राह्यमिन्द्रादेः ॥ ५४ ॥

विकृतिः गोमयदग्धमृत्तिकादिः । वृसी - व्रतिनामासनम् । अवग्रहविधिना - स्वीकर्तव्यविधानेन ।
इन्द्रादेः । उक्तं च -

देवदिराय गहवइदेवद साहम्मि उग्गहं तम्हा ।

उग्गह विहिणा दिन्नं गिण्हसु सामण्णसाहणयं ॥ ५४ ॥ [भ. आ. ८७६ गा.]

अथ विधिदत्तं गृहौत्वा यथोक्तं चरतः समीहितमभिधत्तं इ

चाहिए । देशकी नैतिकताकी यह भी एक कसौटी है कि मनुष्यको अपनी वस्तु उसी स्थानपर मिल जाये जहाँ वह छोड़ गया था या भूल गया था । हाँ, यदि तक पहुँचानेके उद्देश्यसे उसे उठाया जाता है तो वह चोरी नहीं है । चोरी को गुण आदिकामर्माविध् कहा है । मर्मस्थानके छिदने पर प्राणीका तत्काल मरण होता है । उसी तरह चोरी करनेपर व्यक्तिके सब गुण, विद्या, यश वगैरह तत्काल नष्ट हो जाते हैं । वह मनुष्य स्वयं अपनी ही दृष्टिमें गिर जाता है । अन्य लोग भले ही उसके मुँहपर कुछ न कहें किन्तु उनकी दृष्टि भी बदल जाती है ॥ ५३ ॥

आगे कहते हैं कि साधुको ज्ञान-संयम आदिके साधना भी विधिपूर्वक दिये जानेपर ही स्वीकार करना चाहिए --

तपस्वी श्रतणोंको मुनिधर्मके साधन आश्रय, मिट्टी, राख, पिच्छिका, व्रतियोंके योग्य आसन और कमण्डलु वगैरह इन्द्र-नरेन्द्र आदिसे ग्रहण करनेकी विधिपूर्वक ही ग्रहण करना चाहिए ॥ ५४ ॥

विशेषार्थ - यह ग्रन्थ साधु धर्मसे सम्बद्ध है । जैन साधुका प्राचीन नाम श्रमण है । उन्हींके प्रसंगसे यहाँ अदत्तादान विरमण महाव्रतका कथन किया गया है । साधुका वेश धरकर तो चोर चोरी करते हैं । किन्तु सच्चा साधु बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण नहीं करता । उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं । शरीरसे वह नग्न रहता है अतः वस्त्र सम्बन्धी किसी वस्तुकी उसे आवश्यकता नहीं होती । भोजन श्रावकके घर जाकर करता है अतः भोजन सम्बन्धी भी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती । जब साधु वनोंमें रहते थे तब निवासस्थान वसतिकी भी तभी आवश्यकता होती थी जब नगरमें ठहरते थे । वसतिके सिवाय हाथ माँजनेके लिए मिट्टी, राख वगैरह, जीव जन्तुकी रक्षाके लिए पिच्छिका, बैठनेके लिए आसन, स्वाध्यायके लिए शास्त्र और शौचके लिए कमण्डलु आवश्यक होता है । ये भी बिना दिये नहीं लेना चाहिए तथा देनेवाला यदि इन्द्र और राजा भी हो तब भी स्वीकार करनेकी विधिपूर्वक ही

स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् किसीके प्रभावमें आकर बिना विधिके दी हुई वस्तु भी स्वीकार नहीं करनी चाहिए ॥ ५४ ॥

आगे कहते हैं कि विधिपूर्वक दिये हुए संयमके साधनोंको ग्रहण करके यथोक्त संयमका पालन करनेवाले साधुके ही इष्टकी सिद्धि होती है -

- धिवद्वत्तं भ. कु. च. ।
- तसिद्धिम भ. कु. च. ।

शचीश-धात्रीश-गृहेश-देवता सधर्मणां धर्मकृतेऽस्ति वस्तु यत् ।
ततस्तदादाय यथागमं चरन्नचौर्यचुञ्चुः श्रियमेति शाश्वतीम् ॥ ५५ ॥

शचीश:- इन्द्रः । इह हि किल पूर्वादिदिक्षु पूर्वस्या अधिपः सौधर्मेन्द्रः, उत्तरस्याश्चैशानेन्द्रः - ।
धात्रीशः - भूपतिः - गृहेशः - वसतिस्वामी । देवता - क्षेत्राधिष्ठितो भूतादिः ॥ ५५ ॥

अथ शून्यागार - विमोचितावास - परोपरोधाकरण- भैक्ष्यशुद्धि - सधर्माविसंवादलक्षण -
भावनापञ्चकेन स्थैर्यार्थ - मचौर्यव्रतं भावयेदित्युपदिशति -

शून्यं पदं विमोचितमुतावसेद्भैक्ष्यशुद्धिमनु यस्येत् ।
न विसंवदंत्सधर्मभिरु परु न्ध्यान्न परमप्यचौर्यपरः ॥ ५६ ॥

इन्द्र, राजा, वसतिका स्वामी, गृहपति, क्षेत्रका अधिष्ठाता, देवता और बपने संघके साधुओंकी जो वस्तु धर्मका साधन हो उसे उनसे लेकर आगमके अनुसार आचारण करनेवाला अचौर्यव्रती आधु अविनाशिनी लक्ष्मीको प्राप्त करना है ॥५५॥

विशेषार्थ--धर्मसंग्रह (श्वे.) की टीकामें अदत्तके चार भेद किया हैं--स्वामीके द्वारा अदत्त, जीवके द्वारा अदत्त, जीवके द्वारा अदत्त, तीर्थकरके द्वारा अदत्त और गरुके द्वारा अदत्त । जो स्वामीके द्वारा नहीं दिया गया वह पहला अदत्त है जैसे तृण, काष्ठ वगैरह । जो स्वामीके द्वारा दिया गया भी जीवके द्वारा न दया गया हो वह दूसरा अदत्त है जैसे पुत्रकी इच्छाके बिना माता-पिताके द्वारा अपना पुत्र गुरुको अर्पित करना । तीर्थकरके द्वारा निषिद्ध वस्तुको ग्रहण करना तीसरा अदत्त है । और स्वामीके द्वारा दिये जानेपर भी गुरुकी अनुज्ञाके बिना लेना चौथा अदत्त है । चारों ही प्रकारका अदत्त साधुके लिए त्याज्य है । दशवैकालिकमें कहा है---

घसंयमी मुनि सचित्त, अल्प या बहुत, दन्तशोधन मात्र वस्तुका भी उसके स्वामीकी आज्ञाके बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरोंसे ग्रहण नहीं करता, और अन्य ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन भी नहीं करता ॥५५॥

आगे स्थिरताकेलिए पाँच भावनाओंकेद्वारा अचौर्य व्रतकेभावनका उपदेश देते हैं---

अचौर्यव्रती साधुको निर्जन गुफा वगैरहमें अथवा दूसरोंकेद्वारा छोड़े गये स्थानमें बसना चाहिए । भिक्षाओंकेसमूहको अथवा भिक्षामें प्राप्त द्रव्यको भैक्ष कहते हैं उसकी शुद्धिकेलिए सावधान रहना चाहिए अर्थात् पिण्डशुद्धि नामक अधिकारमें आगे कहे गये दोषोंसे बचना चाहिए । साधर्मिजनोंके साथमें घ्यह मेरा हैड यह तेरा हैड इस तरहका झगडा नहीं करना चाहिए । तथा अन्य श्रावक वगैरहको अभ्यर्थनासे रोकना नहीं चाहिए ॥५६॥

१. घसुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च ।

एसण सुद्धिसउत्तं साहम्मीसु विसंवादोड॥--- चारित्र पाहुड, ३४ गा.

शून्यागारविमोचितावास-परोपरोधाकरणं भैक्षशुद्धिसध्दमाविसंवादाः पञ्च ॥---त. सू. ७।६

अस्तेयस्यानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णाव

ग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारणं

समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनं

अनुज्ञापितपानभोजनमिति ।---त. भाष्य ७।३

२. घचित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा वहुं ।

दंतसोहणमेत्तं पि ओग्गहंसि अजाइया ॥

तं अप्पणाण गेण्हंति नो वि गेण्हावए परं ।

अन्नं वा गेण्हमाणं पि नाणु जाणंति संजयाड ॥---अ. ६, श्लो. १३-१४

शुन्यं--निर्जनं गुहागेहादि । पदं--स्थानम् । विमोचितं---परचक्रादिनोद्वासितम् । भैक्षशुद्धिमनु--- भिक्षाणां समूहो भिक्षाया आगतं वा भैक्षं तस्य शुद्धिः पिण्डशुद्धयुक्तदोषपरिहारस्तां प्रति । यस्येत्--- प्रयतेत । न विसंवदेत्--तवेदं वस्तु न ममेति विसंवादं साधर्मिकै सह न कुर्यादित्यर्थः । उपरुन्ध्यात्-- संकोचयेत् ॥५६॥

अथास्तेयव्रतस्य भावनाः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे----

योग्यं---ज्ञानाद्युपकरणम् । स्वाम्यनुज्ञातं--तत्स्वामिना घृहाणड इत्यनुमतम् । एतेनाचारशास्त्रमार्गेण योग्ययाचनं ततस्तत्स्वाम्यनुज्ञातात् ग्रहाणं चेति भावनाद्वायं संगृहीतं बोध्दव्यम् । या तु गोचरादिषु गृहस्वाम्यननु-ज्ञात (-गृहप्रवेशवर्जन-) लक्षणा भावना साऽत्रैवान्तीर्भवत्यननुज्ञातानभ्युपगमाविशोत् । तत्र पर (-ानुज्ञांसंपाद्य-) गृहीतेऽप्यासक्तबुद्धितेति । सैषा चतुर्थी । अर्थवत्--

सपयोजनम् । पनत्प.....(ऐतत्परिमाणमिदं भवता दातव्य-) मिति सप्रयोजनमात्रपरिग्रहो न पुनर्दाता यावद् ददाति तावद् गृह्णाति (-णामीति) बुद्धिरि-

विशेषार्थ --- श्वेताम्बर सम्मत तत्त्वार्थाधिगम भाषामें पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं --- १. अनुवीच्यवग्रहयाचन --- आलोचनापूर्वक अवग्रहकी याचना करना चाहिए । देवेन्द्र, राजा, गृहपति, शय्यातर और साधर्मी, इनमें---से जो जहाँ स्वामी हो उसीसे याचना करनी चाहिए । ऐसा करनेसे अदत्तादान नहीं होता । २. अभीक्षण अवग्रहयाचन --- पहले बारम्बार परिग्रह प्राप्त करके भी रुग्ण आदि अवस्थामें टट्टी --- पेशावके लिए पात्र, हाथ -- पैर धोनेके लिए स्थान आदिकी याचना करनी चाहिए । इससे दाताके चित्तको कष्ट नहीं होता । ३. एतावत् इति अवग्रहावधारण --- इतने परिमाणवाला ही क्षेत्र अवग्रह करना । उसीमें क्रिया करनेसे दाता रोकता नहीं हैं । ४. समान धार्मिकोंसे अवग्रहयाचन --- समानधर्मी साधुओंके द्वारा पहलेसे परिगृहीत क्षेत्रमें --- से अवग्रह माँगना चाहिए । उनकी आज्ञा मिलनेपर ही वहाँ ठहराना चाहिए अन्यथा चोरीका दोष लगता है । ५. अनुज्ञापित पान भोजन --- शस्त्रकी विधिके अनुसार पान- भोजन करना । अर्थात् पिण्डैषणाके उपयुक्त, कृत कारित अनुमोदनसो सहित, कल्पनीय भोजन लाकर गुरुकी अनुज्ञापूर्वक सबके साथ या एकाकी जीमना । प्रश्न व्याकरण सूत्रके अनुसार पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं --- १. विविक्तवसतिवास, २. अनुज्ञातसंस्तारकग्रहण, ३. शय्यापरिकर्मवर्जन, ४. अनुज्ञातभक्तदिभोजन और ५. साधर्मिकोंमे विनय । अर्थात् सभी वस्तुएँ उसके स्वामियोंकी और गुरु आदिकी अनुज्ञापूर्वक ही ग्राह्य हैं ॥ ५६ ॥

अचौर्या व्रतकी भावनाओंकी दूसरे प्रकारसे कहते हैं ---

योग्यको ग्रहण करनेवाला, स्वामीके द्वारा अनुज्ञातको ग्रहण करनेवाला, गृहीतमें भी असक्तको छोड़नेवाला तथा दिये हुएमे---से भी प्रयोजन मात्रको ग्रहण करनेवाला साधु परवस्तुमें सर्वधा निरीह होता है । तथा भोजन --- पानमें और अपिशब्दसे शरीरमें गृह्णिको त्यागनेवाला, परिग्रहसे दूर रहनेवाला और शरीर तथा आत्माके भेदको जाननेवाला साधु परवस्तुमें निरीह होता है ॥ ५७ ॥

त्यर्थ : । सैषा पश्चमी । तथा चौक्तम् --- अणणणदस्सणो ग्रह असंगबृद्धी अणु वि । उग्रहजायण मह उग्रहणास्स । वज्जणमणणणादं ग्रहिपावसंस्सणं । ग्रह असंगबुद्ध अगोचरादी मु । उग्रह जायणमणुवीरचए तह भावणा तदिए ॥

अत्रेदं संस्कृतम् ---

उपादानं मन्येव (मतस्यैव) मते चारक्तबुद्धिता ।

ग्राहयस्यार्थकृतो लीनमितरस्य तु वर्जनम् ॥

अप्रवेशोऽमतेऽगारे गृहिभिर्गोचरादिषु ।

भोज्ये च --- भक्तपाने च । एतेन भक्तसंतुष्टता पानसंतुष्टता चेति द्वे संगृहीते । अपिशब्दात् देहेऽपि । देहेऽशुचित्वानित्यत्वादिभावनापर इत्यर्थः । सैषा तृतीया । अपसङ्गः । सैषा परिग्रहनिवृत्तिलक्षणा चतुर्थी । स्वाङ्गःलोची आत्मानं देहं च भेदेनाध्यवस्यन् । इदं शरीरदिकमात्मनो देहनमुपलेपः कर्मकृतं गुरुत्वं नोपकारकारकमिति देहनाख्या । सैषा पच्चमी ।

एतदप्यभाणि -----

देहणं भावणं चावि उग्गहं च परिग्गहे ।

संतुद्धो सत्तपाणेषु तदियं वदमस्सिदो ॥ []

एतेनैतदुक्तं भवति व्रतान्तरेऽपि शास्त्रान्तरोक्तान्यपि भावनान्तराणि भाव्यानि ।

तत्राद्ये यथा ---

मणगुत्तो वचिगुत्तो इरियाकायसंजुदो ।

एषणासमिदिसंजुत्तो पढमं वदमस्सिदो ॥ []

चतुर्थे यथा ---

इत्थिकहा इत्थिसंसग्गी हस्सखेडपलयणो ।

णियत्तो य णियमं हिट्ठिदो चउत्थं वदमस्सिदो ॥ [] ॥ ५७ ॥

विशेषार्थ --- ग्रन्थकार पं. आशाधराने पहले अचौर्य व्रतकी भावना तत्त्वार्थसुत्रके अनुसार कही थी । अन्य ग्रन्थोंमें अन्य प्रकारसे पाँच भावनाएँ बतलायी हैं । यहाँ उन्हींके अनुसार योग्य पाँच - पाँच भावनाओंका कथन किया है । आचारशास्त्रमें प्रतिपादित मार्गके अनुसार योग्य ज्ञानादिके उपकरणोंकी याचना करना पहली भावना है । और उसके स्वामीकी अनुज्ञासे ग्रहण करना दूसरी भावना है । गोचरीके समय गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञान मिलनेपर उस घरमें प्रवेश न करना तीसरी भावना है । स्वामीकी अनुज्ञासे गृहित योग्य वस्तुमें भी आसक्ति न होना चतुर्थ भावना है । स्वामीके द्वारा दिये जानेपर भी प्रयोजन मात्रका ग्रहण करना पाँचवी भावना है ।

प्रतिक्रमण शास्त्रमें पाँच भावनाएँ इस प्रकार कही हैं -- शरीरके विषयमें अशुचित्वअनित्यत्व आदिका भावन करना, शरीरको आत्माका उपलेप मानना, परिग्रहका त्याग, भक्त और पानमें सन्तोष रखना ये पाँच भावनाएँ है ॥ ५७ ॥

अथास्तेव्रतदृढिमदूराधिरुढप्रौढमहिम्नां परमपदप्राप्तिमाशंसति -----

ते संतोषरसायनव्यसनिनो जीवन्तु ये : शुद्धिचि ---

न्मात्रोन्मेषपराङ्मुखाखिलजगद्दौर्जयगर्जद्भुजम् ।

जित्वा लोभमनल्पकित्विषविषस्त्रोतः परस्वं शकृन् ---

मन्वानैः स्वमहत्त्वलुप्तखमदं दासीक्रियन्ते श्रियः ॥ ५८ ॥

जीवन्तु --- शुद्धचैतन्यदृग्बोधादिभावप्राणैः प्राणन्तु । खमदः --- आकाशदर्पः । परधननिरीहा
आकाशादपि (--- महान्तः इति भावः ---) ॥ ५८ ॥

अथ पचत्वार्शित्पद्यैर्ब्रह्मचर्यव्रतं व्याचिकीर्षुस्तन्माहात्म्यमुपदर्श्य रोचनमुत्पाद्य तत्परिपालनाय
मुमुक्षुं नित्यमुद्यमयति ।

आगे कहते हैं कि दृढतापूर्वक अचौर्य व्रतका अच्छी तरह पालन करनेवाले प्रौढ महिमाशाली
साधुओंको परममदकी प्राप्ति होती है -----

यह समस्त जगत् शुद्ध चिन्मात्र अर्थात् समस्त विकल्पोंसे अतीत अविचल चैतन्यके साक्षात्कारमें
उपयोग लगानेसे विमुख हो रहा है । इस अपकारके अहंकारसे गर्वित होकर लोभ अपनी भुजाएँ ठोककर
अट्टहास करता है । ऐसे तीनों लोकोंको जीतनेवाले उस लोभको भी जीतकर जो पराये धनको विष्टाके
तुल्य और महापापरूपी विषका स्त्रोत मानते हैं और अपनी महत्तासे आकाशके भी मदको छिन्न-भिन्न
करके लक्ष्मीको अपनी दासी बना लेते हैं वे सन्तोषरूपी रसायनके व्यसनी साधु सदा जीवित रहें अर्थात्
दया, इन्द्रिय - संयम और त्यागरूप भावप्रणोंको धारण करें क ॥ ५८ ॥

विशेषार्थ --- संसारके प्रायः समस्त प्राणी जो अपने स्वरूपको भूले हुए हैं और अपने शुद्ध चैतन्य
स्वरूपसे विमुख हो रहा है इसका मूल कारण है लाभ । इसीसे लोभको पापका बाप कहा है । उस लोभको
जीतकर पराये धनसे जो निरीह रहते हैं वे आकाशसे भी महान् हैं । उन्हें जो कुछ उचित रीतिसे प्राप्त
होता है उसीमें सन्तोष करते हैं । यह सन्तोष रसायनके तुल्य है । जैसे रसायनके देवनसे दीर्घ आयु,
आरोग्य आदि प्राप्त होते हैं उसी तरह सन्तोष आत्माके आरोग्यके आरोग्यके रसायन है । सन्तोषके बिना
लोभको नहीं जीता जा सकता और लोभको जीते बिना अचौर्यव्रतका पूर्णतासे पालन नहीं किया जा
सकता । मनमें छिपा हुआ असन्तोष लोभवृत्तिको जगाकर परायं धनके प्रति लालसा पैदा करता है । यह
पराये शनकी लालसा ही चोरीके लिए प्रेरित करती है । चोरीसे मतलब केवल डाकेजनी या किसीके घरमें
घुसकर माल निकालनेसे ही नहीं है । यह सब न करके भी जगत् में चोरी चलती है । अनुचित रीतिसे
परधन ग्रहणकी भावनामात्र चोरी है । परधनके प्रति निरीह हुए बिना मनुष्य चोरीसे नहीं बच सकता और
लोभको जीते बिना परधनके प्रति निरीह नहीं हो सकता । इस प्रकार अचौर्यव्रतका वर्णन जानना ॥५८॥

आगे ग्रन्थकार पैतालीस पद्योंसे ब्रह्मचर्यव्रतका व्याख्यान करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यव्रतका व्याख्यान करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यके माहात्म्य--- वर्णनके द्वारा रुचि उत्पन्न करके मुमुक्षुओंकी उसका सदा पालन करनेके लिए प्रेरित करते हैं ----

प्रादुःषन्ति यतः फलन्ति च गुणाः सर्वेऽप्यखवौजसो,
यत्प्रहीकुरुते चकारित च यतस्तद्ब्रह्ममुच्चैर्महः।
त्यक्त्वा स्त्रीविषयस्पृहादि दशधाऽब्रह्ममलं पालय
स्त्रीवैराग्यनिमित्तपञ्चकपरस्तद्ब्रह्मचर्य सदाः ॥५९॥

प्रादुःषन्ति--- दुःखेन प्रस्त्रवन्ति । गुणाः--- व्रतशीलादयः। अप्यखर्वौजसः--- अखर्वमुन्नतमुदितोदित--

मोजस्तेज उत्साहो वा येषां ते तानिन्द्रादीनपीत्यर्थः। ब्रह्मं--- सार्वज्ञम् । स्त्रीविषयाः--- स्त्रीगता
रुपरसगन्ध---स्पर्शशब्दाः। (अब्रह्म--- बृहं) न्त्यहिसादीन्यस्मिन्निति ब्रह्म --- शु
ध्दस्वाम्तानुभूतिपरिणतिस्ततोऽन्यत् ॥५९॥

अथ ब्रह्मचर्यस्वरूपं निरूप्य तत्पालनपराणां परमानन्दप्रतिलम्भमभिधते ---

या ब्रह्माणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः।
तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥६०॥

स्पष्टम् । उक्तं च ---

निरस्तान्याङ्गरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ [अमित. भ. आरा. पृ.९९०] ॥६०॥

हे मुमुक्षु ! स्त्री- विषयक अभिलाषा आदि दस प्रकारके अब्रह्म अर्थात् मैथुनको त्यागकर तथा स्त्रीमें वैराग्यके पाँच निमित्त कारणोंमें तत्पर होकर सदा निर्मल उस ब्रह्मचर्यका पालन कर, जिस ब्रह्मचर्यके प्रभावसे सभी गुण उत्पन्न होते हैं और फलते हैं, अत्यन्त प्रतापशाली इन्दिदि भी नम्रीभूत हो जाते हैं तथा जिससे प्रसिद्ध उच्च ब्रह्म तेज प्रकाशित होता है । अर्थात् श्रुतकेवलीपना और केवलज्ञानीपना प्राप्त होता है ॥५९॥

ब्रह्मचर्यका स्वरूप बतलाकर उसके पालनमें तत्पर पुरुषोंको परमानन्दकी प्राप्ति बतलाते हैं ---

ब्रम्ह अर्थात् अपनी शुद्ध- बुद्ध आत्मा में, चर्या अर्थात् शरीर आदि परद्रव्यका त्याग करनेवाले साधुकी बाधारहित परिणतिको ब्रम्हचर्य कहते हैं। समस्त भूमिके स्वामी चक्रवर्तीको सार्वभौम कहते हैं। इसे जो निरतिचार पालते हैं वे परमानन्दको प्राप्त करते हैं ॥६०॥

विशेशार्थ --- निरुक्तिकारोंने ब्रम्हचर्यकी निरुक्ति घ्रम्हणि चर्याड की है। ब्रम्हका अर्थ है अपनी शुद्ध- बुद्ध आत्मा। देखे गये, सुने गये, भोगे गये समस्त प्रकारके भोगोंकी चाहरूप निदानसे होनेवाले बन्ध आदि समस्त विभाव तथा रागादि मलसे निर्मुक्त होनेसे आत्मा शुद्ध है। और एक साथ समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होनेसे बुद्ध है। ऐसी आत्मा में अपने और पराये शरीरसे ममत्वको त्याग कर जो प्रवृत्ति कि जाती है उसीमें लीन होना है वही ब्रम्हचर्य है। कहा भी है--- घराये शरीरके प्रति अनुरागको दूर करके अपने शरीरसे भी विरक्त जीवकी ब्रम्हमें चर्याको ब्रम्हचर्य कहते हैं।

इसी ब्रम्हचर्यका व्यावहारिक रूप स्त्री- वैराग्य है। स्त्रीसे मानुषी, तिरश्ची, देवी और उनकी प्रतिमा सभी लिये गये हैं। वैराग्यसे मतलब है स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छाका निग्रह। जबतक यह नहीं होता तबतक ब्रम्हचर्यका पालन सम्भव नहीं है। इसीसे ब्रम्हचर्यको सब व्रतोंका स्वामी कहा है। इससे कठिन दूसरा व्रत नहीं

है। और इसके बिना समस्त त्याग, यम, नियम व्यर्थ हैं।

अथ दशप्रकारब्रह्मसिद्धयर्थ दशविधाब्रह्मप्रतिषेधाय प्रयुङ्क्ते -

मा रू पादिरसं पिपास सुदृशां मा वस्तिमोक्षं कृथा,

वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम्।

मा स्त्री सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मर स्मार्य मा,

सत्स्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विः पञ्चधा ब्रह्मणे ॥ ६१ ॥